साधना से समाधि तक

नरेश कुमार गुप्ता

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

The benevolence exuded by the Supreme is infinite. However, it's our own worthiness that will allow it to be felt and received. Om.

परम सत्ता द्वारा प्रकट की गई कृपा असीम है। परंतु उसे अनुभव करने और प्राप्त करने की क्षमता हमारी अपनी पात्रता पर निर्भर करती है। ओ३म्।

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Naresh Kumar Gupta 2025

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

For permissions requests or inquiries regarding this publication, please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7310-191-0

Cover design: Daksh
Typesetting: Tanya Raj Upadhyay

First Edition: December 2025

प्राक्कथन

हम अपने जीवनानुभवों का समृद्ध रूप होते हैं और मेरा विश्वास है कि हमारा प्रत्येक अनुभव हमारे भविष्य के कर्म के लिए हमें तैयार करता है। श्री नरेश कुमार गुप्ता जी द्वारा लिखित यह पुस्तक उनके जीवनानुभवों तथा अध्ययन का एक महत्वपूर्ण संग्रहण है। साधना से समाधि तक विषय पर उनके द्वारा लिखित यह पुस्तक मनुष्य को जीवन जीने के लिए सही दिशा निर्देशित करेगी।

हुकमचंद सोनी
पूर्व निदेशक, क्रय एवं भण्डार निदेशालय,
परमाणु ऊर्जा विभाग
भारत सरकार
१०/११/२०२५

भूमिका

मेरी आध्यात्मिक यात्रा का प्रारंभ मई सन् २००३ में ऋषिकेश में हुआ। तब मैं सपरिवार गंगा स्नान के लिए हरिद्वार गया हुआ था। भीषण गर्मी थी। मुझे जानकारी मिली कि स्वामी रामसुखदास जी का गीता भवन, ऋषिकेश में प्रतिदिन प्रवचन चलता है। स्वामी जी के नाम से मैं परिचित था परन्तु उन से कभी मिलने का अवसर नहीं मिला था। मैं दूसरे ही दिन, पत्नी और दोनों पुत्रों समेत, स्वामी जी का प्रवचन सुनने, गीता भवन, ऋषिकेश चला गया। गीता भवन में स्वामी रामसुखदास जी से मिलने का सौभाग्य तो मुझे नहीं प्राप्त हुआ, परन्तु उनके निकट के एक सन्त से मेरा परिचय हो गया। उन्हीं सन्त ने मेरा स्वामी रामसुखदास जी की श्रीमद्भगवद्गीता पर टीका 'साधक संजीवनी' से परिचय कराया और मेरी आध्यात्मिक यात्रा शुरू हो गयी।

कोविड के समय अकस्मात् ही मुझे वैदिक दर्शनों में रुचि होने लगी और ईश्वर कृपा से मुझे यु ट्यूब पर आर्य समाज के श्रद्धेय मुनि सत्यजित् की सभी छ: आस्तिक दर्शनों की व्याख्या सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उन्ही दिनों मैं ने गीता के श्लोकों पर अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी - ShrimadBhagwadGita - The Ultimate Scripture.

सन् २०२३ मार्च में मुझे चिकित्सा जांच में कैंसर होने की सूचना मिली। नवी मुंबई स्थित टाटा अस्पताल में तब से मेरा इलाज चल रहा है।

इलाज के दौरान, सन् २०२४ दिसंबर में, मुझे ईश्वर कृपा से, एक और पुस्तक अंग्रेजी में लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ - Timeless Truths - A Spiritual Journey.

यह पुस्तक 'साधना से समाधि तक' मैं ने हिंदी में लिखने का निश्चय किया जिससे अधिकतम लोग इसका लाभ उठा सकें।

इस पुस्तक में, २२ वर्षों में जो तुच्छ ज्ञान मैं ने अर्जित किया है, उस सब का निचोड़ है। आज के तीव्र जीवन में लोग इतना व्यस्त हैं कि उन्हें स्वयं के लिए समय नहीं मिलता। ऐसे जनों के लाभ के लिए ही साधना और उससे सम्बन्धित विषयों पर यह पुस्तक लिखने का निश्चय हुआ।

ओ३म्।

नरेश कुमार गुप्ता

१७/०९/२०२५

नवी मुंबई

ओ३म् परमात्मने नमः

अनुक्रमणिका

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
पहला	साधना में वैदिक दर्शन ज्ञान की अनिवार्यता	१
दूसरा	साधक - उत्तम, मध्य और प्रथम श्रेणी	३
तीसरा	योगसाधना, चित्त की अवस्थाएं और वृत्तियां	५
चौथा	चित्त और अन्य उपकरणों की उत्पत्ति	१२
पांचवां	एकाग्रता और निरूद्धावस्था प्राप्ति के उपाय	१६
छठा	अष्टांग योग और क्रियायोग (संक्षिप्त परिचय)	२१
सातवां	योग सम्बंधित कुछ महत्वपूर्ण बिंदु	२५
आठवां	यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार	२८
नवां	धारणा, ध्यान और समाधि	४५
दसवां	सिद्धियां	४९
ग्यारहवां	असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्ति के उपाय	५३
बारहवां	योगसाधना में विघ्न	५५
तेरहवां	पांच क्लेश	५७
चौदहवां	दु:ख के प्रकार	६७
पंद्रहवां	दु:खों के कारण और उनकी निवृत्ति	७५
सोलहवां	धारणा, ध्यान, समाधि का काल	७९
सत्रहवां	कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग - विशेष टिप्पणी	८१
अठारहवां	कर्मफल व्यवस्था - प्रारब्ध	८६
उन्नीसवां	आस्तिक और नास्तिक दर्शन और वेदों की उत्पत्ति	९३

पहला अध्याय
साधना में वैदिक दर्शन ज्ञान की अनिवार्यता

साधना से समाधि पर्यन्त यात्रा में विभिन्न ग्रंथों में स्वीकृत प्रमाणों में शब्द प्रमाण प्रमुख है। इस हेतु यह उचित होगा कि मुख्य विषय से पूर्व भारतीय वांग्मय, विशेषकर वे शास्त्र जो मूलतः अध्यात्मिक विषय पर केन्द्रित हैं, की संक्षेप में चर्चा की जाए।

वैदिक परंपरा में सृष्टि के आरंभ से ही विभिन्न ऋषि - मुनि इस विषय पर खोज करते रहे हैं कि मनुष्य जीवन किस प्रकार अधिक विकास और उन्नति को प्राप्त हो जो अन्ततः अपवर्ग तक ले जाए। इन सन्तों के गंभीर प्रयासों से आज हमारे पास अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं जो आर्ष ग्रन्थ कहलाते हैं जो बहुमूल्य ज्ञान की राशि से परिपूर्ण हैं। इनमें से कुछ को पढ़े - जाने बिना, यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी, जन सामान्य के लिए आध्यात्मिक उन्नति करना लगभग असम्भव है।

इन ग्रन्थों में वैदिक दर्शन शास्त्र जिन्हें उपांग कहा जाता है अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इन्हें आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में गिना जाता है। ये हैं सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त। सभी दर्शन अलग-अलग विषयों पर एक विशेष दृष्टि प्रदान करते हैं पर सभी का ध्येय मनुष्य को नि:श्रेयस प्राप्ति का मार्ग उजागर करना है। केवल

आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से ही नहीं अपितु जीवन को अधिक से अधिक सुखमय और दु:खरहित किस प्रकार बनाया जाए ये विषय भी तर्क और प्रमाण के साथ प्रस्तुत किये जाने से, इन शास्त्रों का महत्व और बढ़ जाता है।

साधना की दृष्टि से योग, सांख्य और वेदान्त दर्शन अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं और शेष तीन आध्यात्मिक विषयों पर दृढ़ता उत्पन्न करने में विशेष योगदान प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए न्याय दर्शन को अध्यात्मिक विषयों में वही स्थान दिया जाता है जो आधुनिक विषयों में गणित को। स्वामी दयानंद सरस्वती के अनुसार सभी छ: दर्शन एक दूसरे के पूरक हैं इस कारण सभी के विषय में न्यूनतम जानकारी तो होनी ही चाहिए।

इस पुस्तक में साधना से सम्बंधित विभिन्न विषयों पर उल्लेख काफी हद तक पातांजल योग सूत्रों पर आधारित है। अतः पाठक यदि व्यासभाष्य सहित योग दर्शन पुस्तक को समय समय पर अध्ययन करता रहे और अन्य उल्लेखित दर्शनों को जानने/समझने का प्रयास करे तो विशेष लाभ होने की सम्भावना बढ़ जाएगी।

****

दूसरा अध्याय
साधक - उत्तम, मध्य और प्रथम श्रेणी

यह स्वाभाविक है कि कोई भी क्षेत्र या संस्था हो जहां अनेक लोग कार्यरत हैं वहां प्रत्येक स्तर के सदस्य विद्यमान रहते हैं - वे जो बहुत अनुभवी हैं, कुछ उन से कम या बहुत कम और कुछ सर्वथा निरानुभवी। यही विभाजन प्राप्त ज्ञान की दृष्टि से भी किया जा सकता है। ऐसे विभाजन में आध्यात्मिक क्षेत्र अपवाद नहीं है।

पातांजल योग दर्शन में परोक्ष रूप से साधक की तीन श्रेणी परिलक्षित की गई हैं।

उत्तम श्रेणी - इसमें ऐसे साधक सम्मिलित हैं जिन्होंने साधना के क्षेत्र में उच्च स्थिति को प्राप्त कर लिया है। योग दर्शन का प्रथम पाद - समाधिपाद - इस श्रेणी के साधकों के लिये है।

मध्य श्रेणी - साधक जो साधना में कुछ सीमा तक उन्नति को प्राप्त हुए हैं परन्तु अभी कुछ प्राप्त करना शेष है। योग दर्शन का दूसरे पाद, साधनापाद, का शुरुआती भाग इस श्रेणी के साधकों के लिए रचा गया है। ऐसे साधकों के लिए क्रियायोग का अनुष्ठान करना मुख्य बताया गया है।

निम्न या प्रथम श्रेणी - साधक जो साधना मार्ग में प्रविष्ट करने का विचार कर रहे हैं या नये प्रविष्ट हुए हैं। योग दर्शन का दूसरे पाद का अष्टांगयोग वाला भाग प्रारंभिक श्रेणी के साधकों के लिए है। यहां 'निम्न' शब्द निन्दित रूप में नहीं प्रयोग किया गया है परन्तु यह दर्शाने के लिए कि ऐसे साधकों का आध्यात्मिक क्षेत्र में नव्य प्रवेश हुआ है।

इस पुस्तक में तीनों श्रेणी के साधकों से सम्बंधित विषयों पर दृष्टि डाली जाएगी जिससे सभी को यथायोग्य लाभ प्राप्त हो सके।

****

तीसरा अध्याय
योगसाधना, चित्त की अवस्थाएं और वृत्तियां

योगसाधना विषय अत्यन्त व्यापक और शास्त्रसम्मत होने के कारण यह स्वाभाविक है कि आरम्भ से ही कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किये बिना विषय सम्यक रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । ऐसे कुछ शब्द हैं - योग, साधना, वृत्ति, अर्थ, प्रमाण, क्लेश, अभ्यास, वैराग्य, हेय, हान, आदि । परन्तु प्रसंगानुसार जहां अति आवश्यक प्रतीत होगा वहां ऐसे शब्दों को समझाने का प्रयास रहेगा जिससे पाठक विषय को गहराई से ग्रहण कर सके ।

योग शब्द युज् धातु से बना है । युज् का अर्थ है जोड़ना या एकजुट होना । इस कारण प्रायः योग शब्द, मुक्ति काल में आत्मा और परमात्मा के मिलन के संदर्भ में, प्रयोग किया जाता है । परन्तु पातांजल योग दर्शन में योग, जैसा कि पूर्व में कहा गया एक पारिभाषिक शब्द है । यह जोड़ नहीं अपितु 'हटाने' के संदर्भ में प्रयोग किया गया है । इसलिए योग के प्रचलित अर्थ 'जोड़' से विपरीत साधना में योग 'अलग या मुक्त' करने के संदर्भ में ग्रहण किया जाना चाहिए ।

इस अध्याय में आने वाले कुछ अन्य पारिभाषिक शब्द संक्षेप में समझाये जा रहे हैं।

अर्थ - प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम प्रमाण से जिस विषय/वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो

वृत्ति - चित्त के व्यापार

प्रमाण - जिसके द्वारा अर्थ का ठीक ठीक शुद्ध, व्यवधान रहित ज्ञान प्राप्त हो

क्लेश - पातांजल योग दर्शन के साधनपाद में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पांच क्लेश बताये गये हैं जो दु:ख के मूल कारण माने गये हैं

अभ्यास - किसी शास्त्रसम्मत स्थिति को बनाए रखने और उस में और उत्कृष्ट होने के निरन्तर किये गये प्रयत्न

वैराग्य - दृष्ट और अदृष्ट सुखों में राग का अभाव

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: ।। १/२ ।। समाधिपाद योगदर्शन

अर्थात्

'योग' चित्त की वृत्तियां रोकने अथवा हटाने की स्थिति को कहा गया है।

जिस काल में पांचों क्लेशों के निस्तारण हो जाने पर सब दु:खों से सम्पूर्ण निवृत्ति हो जाती है उससे उपलब्ध स्थिति को मुक्ति, मोक्ष, अपवर्ग या नि: श्रेयस कहा जाता है। अन्य शब्दों में सभी सांसारिक बन्धनों के 'हटने' पर मुक्ति प्राप्त होती है।

साधना शब्द साध् धातु से बना है जिसका अर्थ है 'सिद्ध करना' या 'प्रयत्न करना' । जो साधना करता है उसे साधक कहते हैं । योगसाधना में साधक शास्त्रों में उल्लेखित योग के नियमों का अपने जीवन में आत्मसात कर योग का सम्यक रूप से अनुष्ठान करता है जिससे सांसारिक बन्धनों से छूट जाए और अन्ततः मुक्ति को प्राप्त हो। योगसाधना का अनुष्ठान ही अध्यात्मिक मार्ग पर चलना है।

सांख्य दर्शन, जो योगदर्शन का समान शास्त्र माना जाता है, में अन्त:करण के तीन उपकरण स्वीकार किये गये हैं - बुद्धि, अहंकार और मन। योगदर्शन में इन तीनों करणों के अतिरिक्त 'चित्त' शब्द जो कि मन का ही भाग है और स्मृति का उपकरण स्वीकार किया जाता है, व्यापक और पारिभाषिक रूप से प्रयोग किया गया है। मन को उभयेन्द्रि माना गया है क्यों कि मन की प्रेरणा से ही कर्मेंद्रियां और ज्ञानेन्द्रियां अपना अपना कार्य करती हैं और मन ही के सन्निकर्ष से पुरुष या आत्मा को विभिन्न संवेदनाओं की अनुभूति होती है । योगसाधना या योगाभ्यास की सफलता चित्त/मन के कुशल नियन्त्रण कर पाने पर ही निर्भर है।

योग दर्शन के व्यासभाष्य में चित्त की पांच अवस्थाएं बतायी गई हैं - क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इन सभी अवस्थाओं में चित्त समाधि में रहता है परन्तु केवल एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओं में ही योग के संदर्भ में समाधिस्थ होना स्वीकार किया गया है। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्थाओं में रजोगुण और तमोगुण का उभार रहता है जिससे चित्त अज्ञान, अविद्या, सांसारिक विषयों में अत्यधिक आकर्षण और विभिन्न एषणाओं (लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा) से परिपूर्ण रहता है। रजोगुण के बढ़े हुए रहने से मनुष्य अत्यन्त क्रियाशील रहता है और सम्पूर्ण चेष्टाएं सांसारिक सुखों की प्राप्ति पर केन्द्रित रहती हैं। मूढ़ावस्था में तमोगुण का प्रभाव प्रमाद, आलस्य और अज्ञान को अत्यधिक बढ़ा देता है। विक्षिप्त अवस्था में रजोगुण की ही प्रधानता रहती है परन्तु यह स्थिति भी, पूर्व दो से कुछ अंशो में अच्छी मानी जाने पर भी, योग के क्षेत्र में नहीं स्वीकारी जाती। इन तीनों अवस्थाओं में चित्त में वृत्तियों की बहुलता रहती है और मनुष्य किसी एक विषय पर एकाग्र नहीं हो पाता। चौथी अर्थात् एकाग्र अवस्था में सतोगुण का उभार रहता है। निरन्तर प्रयास करने के पश्चात, चित्त कुछ काल के लिए किसी भी एक विषय पर केन्द्रित होने की क्षमता प्राप्त कर लेता है जिसकी परिपूर्णता पर सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति उपलब्ध होती है। इस स्थिति में साधक अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है - यह आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। अन्तिम विशिष्ट स्थिति निरुद्ध अवस्था की है जिसमें किसी भी विषय का अभाव हो जाता है और साधक असम्प्रज्ञात समाधि की ओर

अग्रसर हो जाता है - इस समाधि के परिपक्व होने पर वैराग्य उत्कृष्ट स्थिति पर पहुंच जाता है। ईश्वर, अपनी ही कृपा से, अपना साक्षात्कार कराता है और साधक को दिव्य आनन्द की अनुभूति होती है।

वृत्तियों के प्रकार

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।। १/५ ।। समाधिपाद योगदर्शन

अर्थात्

वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं। ये क्लिष्ट भी हो सकती हैं और अक्लिष्ट भी।

क्लिष्ट का अर्थ है क्लेश से युक्त और अक्लिष्ट का अर्थ है क्लेश से रहित। पांच क्लेश स्वीकार किये गये हैं। इनको विस्तार से तेरहवें अध्याय में समझाया गया है।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।। १/६ ।। समाधिपाद

योगदर्शन

अर्थात्

ये वृत्तियां हैं प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

प्रमाण - योग दर्शन में तीन प्रकार के प्रमाण स्वीकार किये गये हैं - प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (शब्द)। इनकी विस्तृत जानकारी के लिए पाठक न्याय दर्शन पढ़े तो उत्तम रहेगा। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष , अनुमान और आगम के अतिरिक्त उपमान प्रमाण को भी प्रमाणों में सम्मिलित किया गया है। मन, बुद्धि और पांचों ज्ञानेन्द्रियों से संशय रहित, बिना व्यवधान के जो अर्थ का ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण वृत्ति के अन्तर्गत आता है।

जिस प्रत्यक्ष से किसी अप्रत्यक्ष अर्थ का ज्ञान हो उसे अनुमान से होने वाली प्रमाण वृत्ति कहते हैं।

किसी शास्त्र जैसे वेद, दर्शन शास्त्र आदि या किसी आप्त पुरुष के द्वारा कहे वचनों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह आगम प्रमाण वृत्ति है।

विपर्यय - किसी अर्थ के वास्तविक स्वरूप को न समझकर विपरीत समझ लेना विपर्यय वृत्ति है। जैसे सीप में चांदी की प्रतीति।

विकल्प - केवल शब्द मात्र के आधार पर बिना वास्तविक अर्थ की विद्यमानता के जो कल्पना की जाती है वह विकल्प वृत्ति है।

निद्रा - ज्ञान के अभाव का होने वाला ज्ञान निद्रा वृत्ति के अन्तर्गत आता है।

स्मृति - प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा से होनेवाली वृत्तियों की स्मृति ही स्मृति वृत्ति है।

उपर्युक्त पांच वृत्तियां यदि सांसारिक आराम, सुखों आदि की अनित्यता की अनुभूति करा उनसे वैराग्य कराने और योगसाधना में उत्साह बढ़ाने में सहायक हैं तो अक्लिष्ट हैं अन्यथा क्लिष्ट। क्लिष्ट वृत्तियां अविद्यादि क्लेशों को पुष्ट करती हैं वहीं अक्लिष्ट उनका क्षय करती हैं।

****

चौथा अध्याय
चित्त और अन्य उपकरणों की उत्पत्ति

पहले अध्याय में योगसाधना की सिद्धि में दर्शन ज्ञान को अनिवार्य बताया गया है। जो भी विषय साधना से जुड़े हैं उनके बारे में न्यूनतम जानकारी प्राप्त रहने से साधन की प्रक्रिया अधिक सम्यक रूप से होती है। इसी क्रम में जहां पिछले अध्याय में चित्त की वृत्तियों की चर्चा की गई, यह उचित होगा कि शास्त्रानुसार चित्त और अन्य उपकरणों की उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में कुछ महत्वपूर्ण सूचना दी जाए।

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् , महतोऽहंकारोऽहंकारात् पंच तन्मात्राण्युभममिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविशतिर्गणः ।। १/२६ ।। सांख्यदर्शन

महर्षि कपिल रचित सांख्य दर्शन के उपर्युक्त सूत्र में मूल प्रकृति से कार्य जगत् के निर्माण की प्रक्रिया दर्शायी गई है।

शास्त्रों में सत्त्व, रजो और तमो कणों की साम्यावस्था को प्रधान या मूल प्रकृति के नाम से सम्बोधित किया गया है। सृष्टि के आदि में ईश्वर के संकल्प करने पर कि 'मैं एक से अनेक हो जाऊं' यह साम्यावस्था छिन्न - भिन्न हो जाती है। तत्पश्चात सृष्टि की उत्पत्ति

की प्रक्रिया आरंभ होती है। सर्वप्रथम प्रधान से महत् (समष्टि बुद्धि), महत् से अहंकार, अहंकार से मन, पांच कर्मेंद्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। पांच तन्मात्राओं से, जिन्हें सूक्ष्म भूत भी कहा जाता है, स्थूल भूत बनते हैं। स्थूल भूत - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश सृष्टि उत्पत्ति के क्रम में आखिरी तत्व है जिनसे आगे कोई तत्व उत्पन्न नहीं होता। पांचों ज्ञानेन्द्रियों और पांचों कर्मेंद्रियों तथा मन से भी कोई तत्व उत्पन्न नहीं होता। इन आखिरी १६ तत्वों को जिन के आगे और कोई तत्व उत्पन्न नहीं होता को 'विशेष' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार मूल प्रकृति, व्यष्टि बुद्धि (महत् का अणु अंश), अहंकार, मन, पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेंद्रियां और पांच स्थूल भूत इन २४ तत्वों एवं पुरुष (आत्मा) के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इन तत्वों की कुल संख्या २५ होने के कारण सूत्र के अन्त में 'पंचविंश' शब्द का प्रयोग किया गया है।

मूल में सत्त्व, रजो और तमो गुणों की विद्यमानता होने से संसार का प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक है। मन जिसकी स्मृति करने की क्षमता रखने वाले भाग को योग दर्शन में 'चित्त' कहा गया है मूलतः सत्त्व गुण प्रधान है परन्तु समय समय पर रजो और तमो गुण, उभारवश, सत्त्व गुण को आवृत कर देते हैं और उस समय मन की क्रियाएं रजोगुण/तमोगुण से प्रभावित रहती हैं। सत्त्व गुण निर्मल, निर्विकार, ज्ञानवर्धक और सुखमय है, रजोगुण अत्यधिक क्रियाशील है, राग से ओतप्रोत रहता है और अन्ततः दु:खमय है तथा तमोगुण अज्ञान,

प्रमाद, आलस्य और मोह उत्पन्न करने वाला है। यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि यद्यपि पवित्र, निर्मल आदि होने के कारण सत्त्वगुण स्वाभाविक ही सर्वाधिक इच्छित है तथापि रजोगुण और तमोगुण के सर्वथा अभाव में जीवन का यापन असम्भव है। रजोगुण के अभाव में कोई क्रिया न हो सकेगी और तमोगुण के बिना स्थिरता नहीं आ सकेगी (निद्रा आना असम्भव हो जायेगा)। यहां तक कि ध्यान की प्रक्रिया भी, जहा स्थिरता सर्वाधिक आवश्यक है, बाधित हो जाएगी। इस लिए तीनों गुण अपने अपने स्थान पर आवश्यक हैं ।

'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' अद्वैत का मूलभूत सिद्धांत है जिसके अनुसार केवल ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। जीव को ब्रह्म का अविद्या से ग्रसित अंश स्वीकार किया गया है और तत्व ज्ञान से जब इस अविद्या का नाश हो जाता है तो जीव ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है।

द्वैत में प्रकृति और पुरुष (आत्मा) दो तत्वों को नित्य माना गया है तथा त्रैतवाद में प्रकृति, पुरुष (आत्मा) और परमात्मा इन तीन को नित्य स्वीकार किया गया है। नित्य का अर्थ है जिसका न आदि है न ही अंत। योगदर्शन और सांख्यदर्शन त्रैत मान्यता पर आधारित हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का क्रम अनादि काल से चलता आ रहा है। क्यों कि ब्रह्मा की दिव्य सौ वर्ष की आयु बीत जाने के पश्चात सृष्टि का प्रलय हो जाता है और उतने ही काल पश्चात सृष्टि

की पुनः उत्पत्ति होती है इस निरन्तर सृष्टि के बनने - बिगड़ने की प्रक्रिया के कारण सृष्टि को 'प्रवाह से अनादि' कहा जाता है। इसी शैली से मनुष्य के जन्म और मृत्यु का चक्र भी अनादि काल से चलता आ रहा है। इस जन्म मृत्यु के चक्र को भी 'प्रवाह से अनादि' कहा जाता है। यदि यह स्वरूप से अनादि होगा तो जीवात्मा का सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना सम्भव नहीं हो सकता।

जब मनुष्य कर्म करता है तो उसके दो परिणाम होते है, कर्माशय और संस्कार बनना। आदिकाल से किये गये कर्म और उनसे उत्पन्न संस्कार चित्त में स्थित रहते हैं। सम्पूर्ण योगसाधना का उद्देश्य चित्त के क्लिष्ट संस्कारों का क्षय करना है जिसके बिना मोक्ष पाना असम्भव है। क्लिष्ट संस्कारों से चित्त मुक्त होने पर कर्माशय के शेष संचित कर्मों का, जो अभी फल देने के लिए उन्मुख नहीं हुए हैं, फल देने का सामर्थ्य भी क्षय हो जाता है। चित्त के कार्य करने का अधिकार समाप्त हो जाता है और वह मूल प्रकृति में विलीन हो जाता है। ऐसी अवस्था प्राप्त होने वाला योगी जीवनमुक्त हो जाता है और शरीर त्यागने पर नितान्त मुक्ति को प्राप्त करता है।

****

पांचवां अध्याय
एकाग्रता और निरूद्धावस्था प्राप्ति के उपाय

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।। १/१२ ।। समाधिपाद योगदर्शन

अर्थात्

चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने के लिए, अभ्यास और वैराग्य, ये दो उपाय हैं।

स्वयं को सांसारिक भोगों से दूर करने का उपाय वैराग्य है और चित्त की स्थिरता की स्थिति बनाये रखने का निरन्तर प्रयत्न अभ्यास है।

मन की अत्यधिक चंचलता और इस हेतु मन के पकड़ में न आने को स्वीकारते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अभ्यास और वैराग्य को ही मन को गृहीत करने का उपाय बताया है। अर्जुन के, मन की असीम चंचलता पर, प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण निम्नलिखित श्लोक में इन उपायों को उद्धृत करते हैं।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। ६/३५ ।। गीता

अर्थात्

हे विशाल बाहों वाले, इस में कोई संशय नहीं कि मन अत्यधिक चंचल है और इसको पकड़ में लाना अत्यन्त जटिल है। परन्तु हे कुन्तीपुत्र अभ्यास और वैराग्य से इसको गृहित किया जा सकता है।

चित्त एकाग्रता पर महत्वपूर्ण स्पष्टिकरण

चित्त की एकाग्रता को लेकर समाज में एक भ्रान्ति पर कुछ तथ्य स्पष्ट करना आवश्यक है। यद्यपि चित्त की पांच अवस्थाओं, क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध, में एकाग्रता की अलग अलग अवस्था उल्लेखित की गई है, इससे ऐसा अभिप्राय नहीं निकाला जाना चाहिए कि पूर्व तीन अवस्थाओं में चित्त कदापि एकाग्र नहीं होता। मनुष्य जिस जिस काल में भी किसी विषय का ज्ञान अर्जित करता है, उस उस काल में चित्त एकाग्र होता ही है। उदाहरण के लिए गणित, तकनीकी, चिकित्सा या किसी भी अन्य क्षेत्र में उन उन विषयों से सम्बंधित ज्ञान, चित्त एकाग्रता के अभाव में, प्राप्त होना अत्यंत जटिल होगा। इसी प्रकार नृत्य, गायन, शिल्प कला आदि क्षेत्रों में भी अपनी प्रतिभा को, बिना एकाग्रचित्त हुए, सम्यक रूप से प्रदर्शित करने में मुश्किल होगी। मूढ़ से मूढ़ मनुष्य भी किसी न किसी काल में एकाग्र होता ही है अन्यथा उसका जीवन यापन नहीं हो सकता। परन्तु यह एकाग्रता योग के प्रसंग में उल्लेखित एकाग्रता से भिन्न है। यह समझना अत्यधिक आवश्यक है। साधना काल में अनेकों बार साधक सांसारिक विषयों में आई एकाग्रावस्था को योग से सम्बंधित एकाग्रावस्था को त्रुटिवश एक मान लेता है जिससे

साधना की सिद्धि में विलम्ब और हानि होती है। सांसारिक दृष्टि से की गई एकाग्रता में वैराग्य की स्थिति आवश्यक नहीं है परन्तु योगसाधना में एकाग्रता प्राप्ति के लिए वैराग्य के मार्ग का अनुष्ठान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

अभ्यास

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः ॥ १/१४ ॥ समाधिपाद योगदर्शन

अर्थात्

परन्तु वह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर ओर श्रद्धा के साथ सांगोपांग सेवन किया जाए तो दृढ़ अवस्थावाला होता है।

पूर्व में उद्धृत योगदर्शन के सूत्र १/१२ में सूत्रकार चित्त निरूद्ध करने के दो उपायों में पहले अभ्यास और तत्पश्चात वैराग्य को लिखते हैं। परन्तु महर्षि वेदव्यास अपना भाष्य ' वैराग्य' की व्याख्या से प्रारम्भ करते हैं। इससे स्वाभाविक तौर पर यह संशय उत्पन्न होता है कि अभ्यास और वैराग्य में साधना के लिए कौन सा उपाय अधिक महत्व रखता है और क्या एक के अनुष्ठान से ही चित्त की वृत्तियों का निरोध किया जा सकता है या दोनों आवश्यक हैं। इस प्रसंग में व्यासभाष्य पर सम्पूर्णता से दृष्टि डालने पर यह विदित होता है कि जहां दोनों ही उपाय आवश्यक हैं वैराग्य होने पर ही अभ्यास में गति मिल पाने की अधिक संभावना रहती है। वैराग्य स्थूल शरीर से नहीं अपितु

आन्तरिक ज्ञान की दृष्टि से होता है। ज्ञान की पराकाष्ठा ही पूर्ण वैराग्य की स्थिति है।

वैराग्य

अपर वैराग्य

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।। १/१५ ।। समाधिपाद योगदर्शन

अर्थात्

दृष्ट और आनुश्रविक (सुने हुए) विषयों में तृष्णारहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।

इन्द्रियों और अन्त:करण से जो सांसारिक भोगों के विषय प्रत्यक्ष हैं, दृष्ट के अन्तर्गत आते हैं और जो प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं हैं परन्तु जिनको वेद, शास्त्रों में बताया गया है जैसे शुक्ल कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति आदि या जो अन्य जनों के भोगों के अनुभव से सुने गये हैं ऐसे भोग्य विषयों का समाहार 'आनुश्रविक' शब्द में किया गया है। जिस काल में दोनों ही तरह के भोगों से चित्त पूर्ण रूप से तृष्णारहित हो जाता है उस स्थितिविशेष को वशीकार संज्ञा दी गई है - इस स्थिति को 'अपर वैराग्य' की स्थिति कहा जाता है। साधना मार्ग में यह अत्यंत श्रेष्ठ स्थिति मानी गई है और 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहलाती है जिस में अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

पर वैराग्य

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्णयम् ॥ १/१६ ॥ समाधिपाद योगदर्शन

अर्थात्

अपर वैराग्य स्थिति प्राप्त होने पर जब चित्त की सभी कामनाओं का अभाव हो जाता है और सम्प्रज्ञात समाधि परिपक्व हो जाती है उस काल में प्रकृति और पुरुषविषयक विषेश ज्ञान प्रकट होता है। इस ज्ञान से साधक की प्रकृति के तीनों गुणों (सत्त्व, रजो, तमो) में और उनके कार्यों में तृष्णारहित स्थिति हो जाती है और वह सर्वथा निष्काम हो जाता है।

यह वैराग्य की सर्वोच्च स्थिति है और 'पर वैराग्य' की स्थिति कहलाती है। यह 'असम्प्रज्ञात समाधि' की स्थिति है जिस में ईश्वर कृपा स्वरूप अपना साक्षात्कार कराते हैं और साधक दिव्य आनन्द की अनुभूति करता है।

****

छठा अध्याय
अष्टांग योग और क्रियायोग (संक्षिप्त परिचय)

दूसरे अध्याय में साधकों की श्रेणी के विभाजन के सम्बन्ध में अष्टांग योग को प्रथम या निम्न श्रेणी के साधकों के लिये चिन्हित किया गया है। जैसा वहां कहा गया 'निम्न' शब्द निंदित अर्थ में नहीं है अपितु, जो साधक साधना के क्षेत्र में प्रवेशाभिलाषी हैं, जिनकी इस दिशा में रुचि हाल ही में उत्पन्न हुई है या वर्तमान में उत्पन्न हो रही है, केवल ऐसे साधकों को सांकेतित करने के लिए प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि अष्टांग योग मध्यं या उच्च श्रेणी के साधकों के लिए नहीं है। इसका केवल यह अभिप्राय है कि प्रथम से अन्य श्रेणी के साधक इन योगांगों, विषेश रूप से 'यम' और 'नियम' को अपनी साधना में गहराई से उतार चुके हैं और वर्तमान में, ऐसे साधकों को, इनके अनुष्ठान के लिए, विषेश परिश्रम की आवश्यकता नहीं रही है। उनकी साधना अन्य सूक्ष्म साधनों से अधिक उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त करने पर केन्द्रित है। यम/नियम का पालन तो प्रत्येक साधक या श्रेणी के साधक के लिए परमावश्यक है - इस में कोई अपवाद नहीं है और न ही कभी हो सकता है।

निम्नलिखित सूत्रों में अष्टांगयोग के विभिन्न अंगों को बताते हुए सूत्रकार इनके सम्यक रुप से अनुष्ठान होने पर, जो लाभ प्राप्त होते हैं उन्हें भी रेखांकित करते हैं।

अष्टांग योग के विशेष लाभ

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते : ।। २/२८

।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

योगांगो के अनुष्ठान करने से अशुद्धि का क्षय होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

विवेकख्याति वह स्थिति है जिसमें साधक शरीर, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और अहंकार को अपने स्वरूप (आत्मा) से सर्वथा भिन्न देखता है। यह अत्यंत उत्कृष्ट स्थिति है और इसकी प्राप्ति दीर्घकाल तक निरन्तर की गई साधना के पश्चात होती है। वैसे साधना में काल का कोई नियम निर्धारित नहीं है परन्तु अधिकांश में साधना को परिपक्व होने में समय लगता ही है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि ।। २/२९ ।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ (योग के) अंग हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ २/३० ॥

साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - ये (पांच) यम हैं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ २/३१ ॥ साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

(उक्त यम) जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौम होने पर महाव्रत हो जाते हैं।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २/३२ ॥ साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान - ये (पांच) नियम हैं।

क्रियायोग

महर्षि पतंजलि ने अष्टांगयोग के पांच नियमों में अन्तिम तीन - तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान - को अलग से क्रियायोग की संज्ञा दी है और इन को मध्यम श्रेणी के साधकों को दृष्टि में रख कर प्रतिपादित किया गया है।

सूत्रकार साधनपाद के प्रथम दो सूत्रों में कहते हैं -

तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग: ।। २/१ ।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान - ये तीनों क्रियायोग हैं।

समाधिभावनार्थ: क्लेशतनूकरणार्थश्च ।। २/२ ।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

यह (क्रियायोग) समाधि की सिद्धि करनेवाला और अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करनेवाला है।

इस अध्याय में अष्टांगयोग और क्रियायोग के विषय में केवल संक्षेप से बताया गया है, केवल परिचय मात्र से। आगे अध्यायों में प्रत्येक अंग की विस्तृत चर्चा की जाएगी।

****

सातवां अध्याय
योग सम्बंधित कुछ महत्वपूर्ण बिंदु

योग के विभिन्न अंगों की विस्तृत चर्चा से पूर्व इनसे सम्बंधित कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। आधुनिक समाज में योग शब्द से प्रायः सभी परिचय रखते हैं और स्वयं के जीवन को योग से काफी सीमा तक जोड़ के देखते हैं। कोई जन विभिन्न आसनों का निरन्तर रुप से अभ्यास करते हैं, कुछ प्राणायामादि, जिन में श्वास की नियन्त्रण करने की क्रियाएं मुख्य रुप से विद्यमान होती हैं, पर केन्द्रित रहते हैं और अन्य आसन और प्राणायाम दोनों का ही नियमित रूप से अभ्यास करते हैं। इनमें से कुछ ध्यान, जैसा उनके ज्ञान में ध्यान की धारणा है, वह चाहे किसी परिचित या किसी पुस्तक से प्राप्त हुआ हो न कि किसी प्रमाणित शास्त्र से, की क्रिया को भी सीमित मात्रा में समय देते हैं। ये आसन, प्राणायाम और ध्यान का अभ्यास करना निश्चित रूप से सराहनीय है और करना भी चाहिए। इसमें कदापि कोई निषेध नहीं है। परन्तु यहां पर यह समझना आवश्यक है कि इन योग की आसन, प्राणायाम और धारणा/ध्यान की क्रियाओं में, जिन्हें क्रमशः अष्टांग योग के तीसरे (आसन), चौथे (प्राणायाम), सातवें (ध्यान) अंगों से जोड़ के देखा जा सकता है, यम और नियम की दिशा में दृष्टि स्पष्ट रूप से अनुपस्थित रहती है। न केवल साधना की सिद्धि की दृष्टि से अपितु सुखमय जीवन, जीवन की गुणवत्ता, कुशलता और जीवन को सुचारु

रुप से चलाने की दृष्टि से भी यम नियम का अनुष्ठान सर्वोपरि है। जितने भी शास्त्र या ऋषिवचन हैं वह विश्व के किसी भी धर्म, परम्परा, वर्ग या समुदाय से सम्बंध रखते हों अन्ततः सभी निरपवाद उन्हीं गुण/धर्म/स्वभाव को आत्मसात करने की प्रेरणा देते हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यम और नियम में उल्लेखित किये गये हैं। इसी से यम/नियम के पालन करने का महत्व और अनिवार्यता को समझा जा सकता है। इनका अनुष्ठान तो हर परिस्थिति, क्षेत्र और काल में करना ही चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में भी, अष्टांगयोग के यम नियम अंगों में जिन गुणों के आत्मसात करने का निर्देश है, वही गीता के सोलहवे अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों में 'दैवी सम्पत्ति' गुणों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष रुप से उपदेशित किये गये हैं या उनमें अन्तर्भावित हैं।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आजर्वं॥ १६/१ ॥ गीता
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ १६/२ ॥ गीता
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ १६/३ ॥ गीता

उपर्युक्त श्लोकों में तप, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, शौच तो प्रत्यक्ष ही कहे गये हैं तथा अलोलुप्वं में अपरिग्रह और संतोष अन्तर्भावित हैं। इन सभी और अन्य उल्लेखित गुणों को गीता में दैवी सम्पत्ति की संज्ञा दी गई है।

गीता में ब्रह्मचर्य, शौच और अहिंसा (शरीर से न की जानेवाली हिंसा) को शारीरिक तप के अन्तर्गत लिया गया है। इस संदर्भ में निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमाजर्वं।

ब्रह्मचर्याहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।। १७/१४ ।। गीता

योगसाधना मूलतः चित्त/मन की शुद्धता पर केन्द्रित है। इस प्रक्रिया में शारीरिक शुद्धि भी परमावश्यक है, अच्छे स्वास्थ्य की दृष्टि से और चित्त की शुचि हेतु भी। यदि शरीर स्वस्थ नहीं रहेगा, रोगयुक्त रहेगा तो यह स्वाभाविक है कि सम्पूर्ण प्रयास शरीर को रोगमुक्त करने की दिशा में केन्द्रित हो जायेंगे और आसन, प्राणायामादि क्रियाओं की करने की इच्छा एवं क्षमता भी नहीं रहेगी।

अष्टांग योग के पहले पांच अंग बाह्यरंग कहलाते हैं और अन्तिम तीन - धारणा, ध्यान, समाधि - अन्तरंग। योग के सभी अंग अपने अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं और ऐसा न होता तो सूत्रकार इनको एक इकाई के रूप में प्रस्तुत नहीं करते। यम नियम के अनुष्ठान में ऐसा नहीं है कि जब तक, अहिंसा (पहला यम) के पालन में पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त होती तब तक अन्य यम या नियमों का अनुष्ठान न किया जाए। अपितु साधक से अपेक्षित है कि यथासंभव जितने अंगों का साथ साथ पालन/अनुष्ठान हो सके किया जाए विशेष रूप से यम और नियम का।

****

आठवां अध्याय
यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार

यम

अहिंसा

अन्यायपूर्वक किसी प्राणी को कष्ट देना हिंसा के अन्तर्गत आता है। इस के विपरीत हिंसा का न करना अहिंसा है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में अहिंसा की व्याख्या करते हुए महर्षि वेदव्यास लिखते हैं।

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ...

अर्थात्

सब प्रकार से सब कालों में समस्त प्राणियों के प्रति मन में द्रोह की भावना का अभाव 'अहिंसा' है। सामान्यतः हिंसा को, किसी अन्य प्राणी को, शारीरिक कष्ट देने से जोड़ के देखा जाता है। परन्तु शास्त्रानुसार वाणी से अपशब्दों द्वारा अन्यों को दी गई पीड़ा या मन में अन्यों के लिए अहित या द्रोह के विचार (जैसा कि व्यासभाष्य में अहिंसा को उल्लेखित किया गया है) दोनों ही हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। इस दृष्टि से हिंसा ३ प्रकार से हुई। इसके अतिरिक्त सीधे

तौर पर की गई हिंसा के अलावा जो हिंसक कर्म का अनुमोदन करता है या किसी अन्य से हिंसक कृत्य कराता है वह भी हिंसा के परिप्रेक्ष्य में आता है। यह वाचिक और मानसिक रूप से की गई हिंसा पर भी लागू होने पर हिंसा ९ प्रकार की हुई। हिंसा के प्रकार पर गीता की अपनी टीका 'साधक संजीवनी' में श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजी लिखते हैं कि हिंसा का हेतु, तीन मुख्य विकार क्रोध, लोभ और मोह, किसी एक या अधिक के प्रकटीकरण होने पर बनता है। इस दृष्टि से हिंसा २७ प्रकार की हुई। स्वामी रामसुखदासजी आगे लिखते हैं कि हिंसा स्तर के अनुसार अल्प, मध्य या अधिमात्र हो सकती है। इसको अन्तर्निहित करने पर हिंसा के कुल प्रकार ८१ हुए।

अहिंसा के विषय में एक प्रश्न समाज में प्रायः चलता है कि क्या न्याय व्यवस्था रखने का जिन शासन कर्मियों का दायित्व है वे जब किसी संदिग्ध से सत्य उजागर करने के लिए हिंसा का प्रयोग करते हैं क्या वह हिंसा की कोटि में आएगा या अहिंसा की ? यहां यह समझना आवश्यक है कि अपराधी प्रवृत्ति के जन अपने को कानूनी गिरफ्त में पाकर सामान्यतः झूठ का सहारा ले कर उस परिस्थिति से निकलने का प्रयास करते हैं। उनकी मानसिकता की दृष्टि से यह स्वाभाविक भी है। ऐसे में, कानून की रक्षा करने वाले कर्मी, यदि सख्ती नहीं बरतेंगे तो अभियुक्त सत्य न बोल कर अपने बचाव के लिए असत्य का सहारा ले कर अपने को निर्दोष साबित करने का प्रयास करेगा। ऐसी परिस्थिति में समाज के व्यापक हित को देखते हुए जिसके लिए न्याय व्यवस्था का वातावरण बनाये रखना और अपराध को समाप्त

करने के निरन्तर प्रयास परमावश्यक हैं, अभियुक्त से सख्ती करके सत्य उजागर करना हिंसा के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। यह ज़रूर है कि अति सख्ती न की जाए - इस ओर तो दृष्टि रहनी ही चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य में उपयुक्त दिशा निर्देश बनाना/ देना जटिल होगा और वस्तुस्थिति के अनुसार ही सम्बंधित कर्मियों/ अधिकारियों का निर्णय लेना अपेक्षित है।

अहिंसा के विषय में व्यासभाष्य में एक और महत्वपूर्ण बात कही गई है। अहिंसा के पूर्णतया आचरण में लाने की कसौटी तभी खरी देखी जाएगी जब यम/नियम में उल्लेखित अन्य गुणों का भी आत्मसात किया गया है क्योंकि उनके न आचरण में लाने पर कहीं न कहीं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिंसा हो ही जाएगी। उदाहरण स्वरुप जिससे चोरी (स्तेय) की जाती है उसकी हानि एक प्रकार से हिंसा ही है क्योंकि उसके जीवन यापन में व्यवधान आएगा और कष्ट होगा जो अन्यायपूर्वक है। इसी तरह संतोष न रहने पर अधिक प्राप्त करने की इच्छा, अन्यायपूर्वक प्राप्त करने की प्रेरणा में परिवर्तित हो सकती है, जो अन्ततः हिंसा का रुप धारण कर सकती है। इन कारणों से यम/नियम के सभी गुणों का आचरण में लाना अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

सत्य

सत्य को प्रमुखता से वाणी से जो कहा जाए, उससे जोड़ के देखा जाता है और इसको लेकर समाज में अनेक धारणा/भ्रान्तियां

प्रचलित हैं। जहां कुछ सत्य के अनुष्ठान को विशिष्ट आचरण का श्रेष्ठतम् गुण मानते हैं, चाहे उस सत्य बोलने का कोई भी परिणाम क्यों न हो, अन्य उस असत्य को, जिससे किसी की हानि न होती हो अपितु किन्हीं परिस्थितियों में अपना या अन्य का हित नज़र आए, अनुचित नहीं मानते। इस प्रकरण में सत्य को और व्यापक दृष्टि से समझने का प्रयास किया गया है।

योगदर्शन के भाष्य में महर्षि वेदव्यास सत्य की व्याख्या करते हुए उद्धृत करते हैं **- सत्य यथार्थे वांग्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वांग्मनश्चेति ....**

अर्थात्

जो पदार्थ जैसा हो उसके सम्बन्ध में वैसी ही वाणी हो और वैसा ही मन में होना 'सत्य' है। जैसा देखा हो, अनुमान से जाना हो और सुना हो, वैसा ही मन और वाणी में होना सत्य है।

सत्य की उपर्युक्त परिभाषा का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। जैसा समझा हो और जैसा मन में हो, वैसा बोलना, वाचक की दृष्टि से निश्चित रूप से सत्य होगा परन्तु यह आवश्यक नहीं कि कहा गया वचन पूर्णतया यथार्थ हो। इसका अभिप्राय है कि वाचक अपनी योग्यता के अनुरूप जैसा ज्ञान ग्रहण करने में सक्षम होगा उन्हीं अंशो तक समझ पाएगा और सम्भवतः यह उस वस्तु/विषय/अर्थ का प्राप्त ज्ञान यथार्थ से हट कर हो। ऐसी स्थिति में यद्यपि मन और वाणी में समन्वय हो, यथार्थ की दृष्टि से कहा गया वचन पूर्णतया सत्य नहीं होगा।

ऐसी परिस्थिति में किस प्रकार निर्णय किया जाए क्या सत्य है और क्या सत्य नहीं है ? यमों की दृष्टि से क्षमतानुसार जैसा समझा और मन/बुद्धि से ग्रहण किया गया वैसा ही कह देना सत्य है। परन्तु साधक से यह सर्वदा अपेक्षित है कि वह अपने ज्ञान को अधिक से अधिक शुद्ध करने के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहे जिससे ऐसी परिस्थिति, जिस में उक्त वचन यथार्थ से विपरीत कहा जाए, न उत्पन्न हो। इसलिए जब भी कोई बात कही जाए यह परीक्षा कर लेनी चाहिए कि वह मूल रूप से ठीक है या नहीं।

सत्य के सम्बन्ध में विषेश बातें

शास्त्रों में सत्य को धर्म का आधार माना गया है। दान और दया धर्म को स्थिर रखते हैं। क्षमा से धर्म पुष्ट होता है और क्रोध से धर्म का नाश होता है।

हित के नाम से सत्य के स्थान पर असत्य का आचरण करना सत्य नहीं है। ऐसा तर्क, तर्क नहीं अपितु कुतर्क है।

किन्हीं स्थितियों में जहां मौन रहने से वस्तुस्थिति के स्थान पर विपरीत स्थिति या विपरीत अर्थ सांकेतित होने की सम्भावना है जो हानि का हेतु बन सकता है, वहां मौन रहना असत्य बोलने की श्रेणी में आएगा।

जो सत्य छल से आप्लावित है वह सत्य नहीं असत्य है।

जो सत्य भ्रान्ति उत्पन्न करता हो वह असत्य है।

उदाहरण के लिए जो कथन किया जा रहा है यदि उस कथन का अभिप्राय वास्तविक तथ्यों से श्रोता को विपरीत ज्ञान गृहित करा रहा है तो वह असत्य है।

अस्तेय

मन, वाणी और शरीर से चोरी का परित्याग करके उत्तम कार्यों में तन, मन, धन से सहायता करना अस्तेय है। केवल चोरी को छोड़ देना अस्तेय नहीं है।

ब्रह्मचर्य

वेद पढ़ना, ईश्वरोपासना और वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह

विषयों में उपार्जन, लक्षण, क्षय, हिंसा, दोष देख कर विषय भोग की दृष्टि से उनका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान)

शौच

शौच का अर्थ है शुद्धि। शुद्धि दो प्रकार की होती है - बाह्य शुद्धि और आन्तरिक शुद्धि। शरीर, वस्त्र, पात्र, स्थान, भोजन आदि को शुद्ध रखना बाह्य शुद्धि है और आजीविका के लिए न्यायपूर्ण ढंग से धनोपार्जन करना आन्तरिक शुद्धि है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अविद्या, राग, द्वेष आदि विकारों को दूर करना आन्तरिक शुद्धि है।

बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि प्राप्त करना अधिक परिश्रम साध्य है और साधना की सिद्धि की दृष्टि से आन्तरिक शुद्धि ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

सन्तोष

यथायोग्य परिश्रम से जो प्राप्त हो जाए उस में सन्तुष्ट रहना और अधिक मिलने की इच्छा न रखना सन्तोष है। यह काफी सीमा तक अपरिग्रह के समान ही है जिसमें साधक से, अनावश्यक पदार्थों को संग्रहित करने की लालसा न करना अपितु उनके त्याग की भावना रखना अपेक्षित है।

तप

धर्म पालन के लिए कोई भी परिस्थिति, घटना या व्यक्ति के प्राप्त होने पर सुख - दु:ख, लाभ - हानि, मान - अपमान, विजय - पराजय, भूख - प्यास आदि को शान्त चित्त से सहना तप है।

स्वाध्याय

वेद और वेदानुकूल मोक्ष शास्त्र पढ़ना - पढ़ाना, ईश्वर के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले मंत्रों और प्रणव आदि का अर्थ सहित जाप करना स्वाध्याय है।

ईश्वर प्रणिधान

समस्त कर्मों को परम गुरु ईश्वर को समर्पित कर देना, शास्त्रों में किये निर्देशित मार्ग पर चलना, ईश्वर के गुणों को अपनाने में सर्वथा प्रवृत्त रहना, धर्माचरण करना, ईश्वर साक्षात्कार को मुख्य लक्ष्य बनाकर सम्पूर्ण कार्यों को करना ईश्वर प्रणिधान है।

यम नियम सम्बंधित विशेष बातें

यम सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं और नियम व्यक्तिगत दृष्टि से। यमों के आचरण में न आने से सामाजिक हानि की सम्भावना बढ़ जाती है इसलिए यमों का अनुष्ठान परमावश्यक है। ऐसा करने को महाव्रत की संज्ञा दी गई है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि नियम निरर्थक हैं या उनके अनुष्ठान को कम आवश्यक माना जाए। नियम भी अत्यधिक महत्व रखते हैं और उनका भी उसी उत्साह से अनुष्ठान करना चाहिए जितना यमों का। यह बिन्दु इसलिए उद्धृत किया गया जिससे यह समझा जा सके कि नियमों के अनुष्ठान के अभाव में तो अधिकता से व्यक्तिगत हानि ही होगी परन्तु यमों के न पालन करने पर समाज की हानि होगी जो अधिक घातक है। इस कारण यम अपेक्षा से नियम से अधिक महत्व रखते हैं।

* आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के पूर्व क्रियायोग के विषय में संक्षिप्त चर्चा

क्रियायोग

छठे अध्याय में बताया गया कि अन्तिम तीन नियम, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान, को सूत्रकार ने क्रियायोग की संज्ञा दी है । यह विशेष रूप से मध्यं श्रेणी के साधकों को दृष्टि में रख के उद्धृत किया गया है ।

महर्षि वेदव्यास लिखते हैं -

नापस्विनो योग: सिद्धति ।

अर्थात्

जो अतपस्वी है उसको योग में सिद्धि नहीं मिलती ।

इसलिए क्रियायोग में तप पर विशेष बल दिया गया है । नियमों की चर्चा में तप के विषय में कुछ तथ्य रखे जा चुके हैं । यहां विशेष रूप से कछ और बात बताई गई हैं ।

जब तक मनुष्य मोक्ष नहीं पा लेता तब तक जन्म - मृत्यु का चक्र निरन्तर चलता रहता है । प्रत्येक जन्म में नये कर्म होते हैं और इन कर्मों से नये संस्कार बनते हैं । इन संस्कारों की छाप चित्त में निरन्तर होती रहती है । अनेक जन्मों के पश्चात संस्कारों की गहनता और दृढ़ता बढ़ने के कारण चित्त अत्यधिक अशुद्धि को प्राप्त होता रहता है और यदि इसे शास्त्रों में उद्धृत उपायों से नियन्त्रित/ क्षीण न किया जाए तो अशुद्धि में वृद्धि होती ही रहती है। तप को इस अशुद्धि को छिन्न - भिन्न करने का सबसे उपयुक्त उपाय स्वीकार किया गया है ।

इस के अनुष्ठान से क्लेश धीरे धीरे क्षीणता को प्राप्त होते रहते हैं और चित्त शुद्धि की दिशा में अग्रसर हो जाता है।

इसमें समय का कोई नियम नहीं है और साधक के उत्साह और दृढ़ता पर निर्भर करता है।

तप कितना करना चाहिए ?

तप के विषय में यह विदित होना आवश्यक है कि उन्हीं तपों का अनुष्ठान करना चाहिए जिनका शास्त्रों में विधान हो। अन्यथा तप निरर्थक हो जाएंगे। तप उतनी ही मात्रा में किया जाना चाहिए जितना कि तप के करने से साधक की योग में अरुचि न हो जाए अर्थात् एक संतुलित मात्रा में ही तप करना चाहिए।

स्वाध्याय के विषय में भी नियमों की चर्चा के दौरान मुख्य बातें उद्धृत की जा चुकी हैं। यहां भी मोक्ष शास्त्र और ऐसे ग्रन्थ जो ईश्वर, जीव, प्रकृति के यथार्थ रूप का परिज्ञान कराते हैं, के पढ़ने पर बल दिया गया है। जैसे पहले बताया गया अर्थसहित प्रणव (ओ३म्) आदि का जप भी स्वाध्याय में स्वीकृत किया गया है।

ईश्वर प्रणिधान जो क्रियायोग का तीसरा भाग है। इसमें ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति का भाव रखना और सम्पूर्ण चेष्टाओं और क्रियाओं को ईश्वर को समर्पित करना समाहित है। इसे भी नियमों की चर्चा करते समय पूर्व में समझा दिया गया है।

यम नियम के सम्यक अनुष्ठान से प्राप्त सिद्धियां

अहिंसा

अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर साधक का सभी प्राणियों के प्रति वैरभाव नितान्त समाप्त हो जाता है और जो जन उस साधक के सम्पर्क में आते हैं, उसके उपदेश का आचरण करते हैं उन प्राणियों का वैरभाव भी छूट जाता है।

सत्य

सत्य में आचरण परिपक्व हो जाने के पश्चात साधक का सब कर्म उत्तम फलवाले हो जाते हैं और अन्य प्राणियों पर भी इसका यथायोग्य प्रभाव पड़ता है।

अस्तेय - जब साधक स्तेय का पूर्णतया परित्याग कर देता है तब उसे उत्तम पुरुषार्थ अनुरूप उत्तम फल की प्राप्ति होती है, अन्यों से सहायता मिलती है और ज्ञान, बल और सुख की भी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होने पर साधक को शारीरिक और बौद्धिक बल की प्राप्ति होती है। वह अपनी और अन्यों की रक्षा करने में सक्षम हो जाता है।

अपरिग्रह

जब साधक हानिकारक और अनावश्यक पदार्थों और विचारों का दृढ़तापूर्वक परित्याग कर देता है तब उसे भूत, वर्तमान और भविष्य से सम्बंधित जिज्ञासा और आनुमानिक ज्ञान होने लगता है।

शौच

बाह्य और आंतरिक शुद्धि में प्रतिष्ठित हो जाने के पश्चात साधक स्वयं के और अन्यों के शरीर में अनासक्त हो जाता है। यह अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धि है।

सन्तोष

पूर्ण सन्तोष को पालन करने वाले साधक को संसार के उत्तम सुखों की प्राप्ति होती है।

तप

तप के निरन्तर अनुष्ठान से वात, पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न विकार, तमोगुण से उत्पन्न आलस्यादि दोषों का नाश हो जाता है और शरीर स्वस्थ, बलवान् और स्फूर्तिवान रहता है। इन्द्रियों की क्षमता बढ़ जाती है।

स्वाध्याय

वेदादि मोक्ष शास्त्र के पठन पाठन से और प्रणव तथा गायत्री आदि मन्त्रों के अर्थसहित जाप से ईश्वर, वैदिक विद्वान आदि धार्मिक

मनुष्यों से सम्बंध हो जाता है और उनसे उत्तम कार्यों में सहयोग मिलता है।

ईश्वर प्रणिधान - ईश्वर की भक्ति विशेष तथा सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर को अर्पित करने पर समाधि की प्राप्ति होती है। प्रत्येक वस्तु, तत्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।

आसन

स्थिरसुखमासनम् ।। २/४६ ।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

जिस अवस्था में शरीर स्थिर और सुखमय हो वह आसन है।

आसन योगांगों में तीसरा है और अन्य सभी अंगों की तरह यह भी अत्यधिक महत्व रखता है। साधना की सिद्धि में आसन आधार स्वरूप है और चित्त का नियन्त्रण आसन के ठीक प्रकार से लगाने पर निर्भर करता है। व्यासभाष्य में साधक की सुविधा के लिए कुछ आसनो का संकेत है जैसे कि पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वास्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यंक, क्रौंचनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन आदि। जो आसन केवल शरीर को स्वस्थ और पुष्ट रखने पर केन्द्रित हैं, व्यायाम सम्बंधित आसन हैं। जिन आसनों का प्रयोग आन्तरिक अंगों के लिए किया जाता है वे योगासन हैं। सभी आसन योगासन नहीं हैं।

साधक को जो भी आसन शरीर के अनुकूल लगे उसी का प्रयोग करे । किसी आसन विशेष के प्रयोग का कोई नियम नहीं है । आसन में शरीर को सीधा रखना चाहिए और शरीर को ढीला छोड़ कर तनाव रहित सुखमय स्थिति स्थापित करनी चाहिए जिससे अधिक समय तक बैठा जा सके । यदि साधक किसी कारणवश, जैसे किसी रोग आदि के कारण, भूमि पर नहीं बैठ सकता तो कुर्सी पर बैठ कर या यह भी न कर पाने की स्थिति में, ईश्वर का ध्यान लेट कर धारणा, ध्यानादि कर सकता है । ऐसी रोगग्रस्त या विशेष स्थितियों में इस प्रकार चित्त को ध्यान में लगाने का निषेध नहीं है ।

आसन की सिद्धि के लिए सूत्रकार दो उपायों को उद्धृत करते हैं । पहला समस्त शारीरिक चेष्टाओं को रोक देना और दूसरा परमात्मा का शुद्ध चित्त से ध्यान करना । पहले उपाय में जितना सम्भव हो सके शरीर को उतना ढीला छोड़ देना चाहिए । कोई प्रयत्न न किया जाए । इससे शरीर में जो भी गति हो रही हैं न्यून हो जाने लगेंगीं और शरीर स्थिर होने लगेगा । दूसरे उपाय में ईश्वर पर चित्त को केन्द्रित करने से आसन को स्थिर करने में विशेष सहायता मिलती है ।

आसन की सिद्धि के लाभ

आसन की सिद्धि से शीत - उष्ण, भूख - प्यास आदि द्वन्द्वों में न्यूनता आती है । उत्तर के अंगों के अनुष्ठान करने में सुविधा होती है तथा सूक्ष्म विषयों को समझने भी सरलता आती है और कम चेष्टा लगती है ।

प्राणायाम

योग के प्रसंग में जो प्राणायाम किया जाता है, वह समाज में स्वास्थ्य को केन्द्रित कर के जो प्राणायाम किया जाता है, से भिन्न है। कहने का अभिप्राय है कि स्वरुप और उद्देश्य दोनों ही दृष्टियों से भिन्न है।

आसन और प्राणायाम का योगांगों में विषेश महत्त्व है। अन्तरंग अंगों, धारणा, ध्यान और समाधि, की सिद्धि आसन और प्राणायाम के सम्यक रुप से प्रतिष्ठित होने के अभाव में, दुर्लभ होती है। इस कारण इन दोनों की सिद्धि अति आवश्यक है।

आसन की शुद्धि हो जाने पर श्वास - प्रश्वास की गति रोक देना 'प्राणायाम' कहलाता है। बाह्य वायु को भीतर भर लेना श्वास है और अन्दर की वायु को बाहर निकालना 'प्रश्वास' है। दोनों की गति को यथाशक्ति रोक देना प्राणायाम है। श्वास को बाहर निकाल कर बाहर ही रोक देना बाह्य प्राणायाम है। श्वास को भीतर लेकर यथाशक्ति भीतर रोक देना 'आभ्यान्तर प्राणायाम' है। इसके अतिरिक्त योगदर्शन में एक और प्राणायाम को उद्धृत किया गया है जिस को स्तम्भवृत्ति प्राणायाम कहते हैं। इस प्राणायाम में श्वास न अन्दर लेना है न बाहर निकालना है - जो स्थिति हो श्वास को वहीं रोक देना है। महर्षि पतंजलि एक चौथे प्राणायाम का भी साधनपाद के ५१ वे सूत्र में उल्लेख करते हैं जिसे बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी प्राणायाम का नाम दिया गया है।

उपर्युक्त प्राणायाम के विषय में विस्तृत जानकारी के लिए पाठक योगदर्शन के साधनपाद के सम्बन्धित सूत्र और व्यासभाष्य में दी गई व्याख्या देख सकता है।

प्राणायाम के अनुष्ठान से अज्ञान क्षीण होता है और साधक को विभिन्न अर्थों की वस्तुस्थिति समझने में सुविधा होती है। जैसे जैसे साधना उत्कृष्ट होती रहती है उतने उतने अंशों में साधक का विवेक भी जाग्रत होता रहता है।

प्रत्याहार

इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के अनुसार होना 'प्रत्याहार' कहलाता है। जब चित्त निरूद्ध हो जाता है तब इन्द्रियां भी निरूद्ध हो जाती हैं और चित्त का अनुकरण करती हैं। साधक को सांसारिक विषयों से इन्द्रियों का सम्बन्ध कम से कम रखना चाहिए। ऐसे में वश में की गई इन्द्रियां ध्यानकाल में बाधित नहीं करती। प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियों का उत्कृष्ट नियन्त्रण होता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्याहार में इन्द्रियों पर वश करने का प्रयास रहता है और आभ्यान्तर योगांगों के समान इस का अनुष्ठान आसन पर नहीं किया जाता। जहां ध्यानादि कितने न्यूनतम काल तक करना चाहिए, इसके विषय में सिद्ध योगियों का उल्लेख उपलब्ध है, वहां प्रत्याहार के लिए समय सीमा निर्धारित नहीं की गई है। इसका अनुष्ठान आसन पर नहीं होता अपितु इस में जागृत अवस्था में इन्द्रियों को अपने

अपने विषयों से दूर रखने का प्रयत्न अपेक्षित है। ऐसा निरन्तर प्रयास करने पर यदि कोई विषय का आलंबन हो भी जाए तथापि इन्द्रियां विचलित नहीं होती। यही प्रत्याहार में सिद्ध होना है।

धारणा, ध्यान और समाधि की चर्चा अगले अध्याय में होगी।

****

नवां अध्याय
धारणा, ध्यान और समाधि

अष्टांगयोग के पहले पांच अंग, यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग हैं अर्थात् इन सभी का अनुष्ठान प्रमुखता से शरीर के बाहर से किया जाता है। अन्तिम तीन अंग धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग हैं क्योंकि इनमें अनुष्ठान अन्त:करण के स्तर पर होता है। यह समझना महत्वपूर्ण है कि सम्पूर्ण शरीर, बाह्य और अन्त: करणों के साथ मिलकर एक इकाई के रूप में कार्य करता है और यह कार्य केवल शरीर या केवल अन्त:करण से, सम्यक रुप से कर पाना असम्भव है। कार्य सिद्धि दोनों के सामंजस्य से ही हो सकती है। समन्वय जितना सुव्यवस्थित होगा कार्य उतने ही अंशो में सफलता को प्राप्त करेगा।

अष्टांगयोग विभिन्न अवयवों से उपर्युक्त समन्वय को ही उल्लेखित करता है। जितना ध्यान, पूजा, उपासना आदि जो मुख्यतः अन्त:करण के विषय है और जिनके लिए आन्तरिक शुद्धि अनिवार्य है उतना ही महत्वपूर्ण शरीर को स्वस्थ और शुद्ध रखना भी है।

धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ३/१ ॥ विभूतिपाद योगदर्शन

अर्थात्

चित्त को देशविशेष जैसे नाभि चक्र, हृदय कमल, मस्तकगत प्रकाश, नासिका के अग्रभाग, जिह्वा के अग्रभाग आदि प्रदेशों में अथवा बाह्य विषय जैसे पर्वत, वृक्ष आदि में स्थिर करना धारणा है।

जब साधक अन्तरंग अंगों के सम्यक अनुष्ठान करते करते उनमें प्रतिष्ठित हो जाता है तब मन उसके अधिकार में हो जाता है और इच्छानुसार वह जहां मन को स्थिर करना चाहे वहां स्थिर कर लेता है।

धारणा में साधक जिस विषय में सम्यक ज्ञान प्राप्त करना चाहे उस उस विषय या वस्तु पर मन स्थिर करे। निरन्तर प्रयास से साधक को उस वस्तु विशेष का चाहे शारीरिक अंग हो या बाह्य वस्तु हो वह उससे सम्बन्धित ज्ञान विशेष प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है जो सामान्यतः साधारण जन को उपलब्ध नहीं होता।

ध्यान

तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३/२ ॥ विभूतिपाद योगदर्शन

अर्थात्

जिस विषय पर धारणा की गई है उसी स्थान में ज्ञेय - विषयक ज्ञान का एक समान बने रहना अर्थात् ज्ञेय - विषयक ज्ञान से भिन्न और कोई अन्य ज्ञान उपस्थित न होना ध्यान है।

जिस काल में ध्याता को ध्येय के ज्ञान से भिन्न दूसरा और कोई ज्ञान नहीं रहता (न कि स्वयं का न कि वह ध्यान की प्रक्रिया कर रहा है) वह ध्यान की अवस्था है।

प्रायः लोक में ध्यान और ईश्वर उपासना को पर्याय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। यहां यह विदित होना आवश्यक है कि ध्यान किसी जड़ वस्तु, आत्म स्वरूप, ईश्वर या प्रणव आदि किसी का भी किया जा सकता है। जब ध्यान, ईश्वर अथवा ईश्वर के गुणों जैसे ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, सर्वज्ञ आदि है, का किया जाता है तब ध्यान को उपासना कहा जाता है।

ईश्वर उपासना से पूर्व यह महत्वपूर्ण है कि उपासक शब्द प्रमाण , जैसे वेदादि या वेदानुकूल मोक्ष शास्त्र अथवा अनुमान प्रमाण से ईश्वर सम्बंधित विषयों का सम्यक ज्ञान प्राप्त करे तत्पश्चात ईश्वर के ध्यान में आसन करे अन्यथा उपासना में सफलता मिलना दुर्लभ होगा।

समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि : ॥ ३/३ ॥ विभूतिपाद योगदर्शन

अर्थात्

वह ध्यान ही केवल ध्येय के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला, अपने ध्यानात्मक स्वरूप से शून्य बना जैसा अर्थात् ज्ञानस्वरूप से गौण हुआ समाधि है।

इसको इस प्रकार समझा जा सकता है। ध्यान की अवस्था में तीन चीजें मुख्य होती हैं।

- ध्याता अर्थात् जो ध्यान की प्रक्रिया करता है

- ध्येय अर्थात् जिसका ध्यान किया जाता है

- ध्येय का ज्ञान

समाधि में केवल ध्येय का स्वरूप मुख्य रूप से प्रकाशित होता है अर्थात् ध्यान गौण हो जाता है और पदार्थ का स्वरूप मुख्य रहता है। स्वरूपशून्य का अभिप्राय यह नहीं है कि ज्ञान शून्य हो जाता है परन्तु पदार्थ का साक्षात्कार समाधि अवस्था में मुख्य रहता है।

****

दसवां अध्याय
सिद्धियां

जन्मौषधिमन्त्रतप:समाधिजा: सिद्धय: ।। ४/१ ।। कैवल्यपाद योगदर्शन

अर्थात्

पूर्व जन्म के संस्कारों से, औषधियों के सेवन से, गायत्री आदि मन्त्रों के जप से, तप से और समाधियों से 'सिद्धियां' उत्पन्न होती हैं।

जो जन्म से प्राप्त हो उसे जन्मजा सिद्धि कहते हैं। पूर्व जन्म के शुभ कर्म, वेदानुकूल मोक्ष शास्त्र का अध्ययन और अध्यापन, यम, नियम आदि अष्टांग योग के अंगों का अनुष्ठान, शुद्ध आचरण का आत्मसात आदि से चित्त सुसंस्कार से अन्वित हो जाता है और इन पवित्र संस्कारों के कारण वर्तमान जन्म में बिना अधिक परिश्रम किये सिद्धि प्राप्त होती है। इस को जन्मजा सिद्धि कहते हैं।

विशेष औषधियों, नियमित पौष्टिक आहार, रसायन आदि के प्रयोग से शरीर स्वस्थ रहता है और इन्द्रियां सम्यक रुप से कार्य करती हैं जो साधारण से कई गुना अधिक होता है। इसे औषधिजा सिद्धि कहते हैं।

वेदों में जो शब्द समुदाय हैं उन्हें मन्त्र कहते हैं। जिन विचारों से सूक्ष्म विषयों की गवेषणा की जाती है उन्हें भी मन्त्र कहते हैं। गायत्री आदि मन्त्रों के अर्थसहित जाप से और उनमें निर्देशित आचरण के अनुसरण से व्यक्ति का मन एकाग्र होता है और शरीर, इन्द्रियां वश में रहती हैं। मन्त्रों का गम्भीर अध्ययन और ऊहापोह करने से प्रकृति पुरुष का परिज्ञान होता है। इन सब से विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसे मन्त्रजा सिद्धि कहते हैं।

धर्म पालन में जो भी बाधाएं या द्वन्द्व आते हैं जैसे शीतता - उष्णता, भूख - प्यास, मान - अपमान, लाभ - हानि, विजय - पराजय आदि उनको प्रसन्नतापूर्वक सहना तप है। तप से दूषित संस्कार क्षीण होते हैं जिससे सत्वगुण बढ़ता है और चित्त पवित्र होता है। अन्यों पर वाणी का प्रभाव पड़ता है। यह तपोजा सिद्धि है।

धारणा, ध्यान ओर समाधि से चित्त में एकाग्रता आती है जिससे ज्ञान परिशुद्ध होता है। किसी भी पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। जब चित्त सम्पूर्ण वृत्तियों से निरुद्ध अवस्था में प्रविष्ट होता है ज्ञान का प्रकाश होता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय विदित होने लगता है। यह साधना की सर्वश्रेष्ठ स्थिति है। इस अवस्था के पश्चात कोई अन्य वस्तु विशेष से अधिक लाभ प्राप्य नहीं रह जाता। यह समाधिजा सिद्धि है।

अष्टांग योग के बाह्य अंग विस्तार से आठवें अध्याय में चर्चित किये गये हैं। अहिंसा से क्रमशः प्राणायाम तक प्रत्येक अंग के अनुष्ठान

के परिपक्व हो जाने के पश्चात सिद्धियां उपस्थित होती हैं। इन सिद्धियों को वहीं कह दिया गया है।

अब तक उल्लेखित सिद्धियों के अतिरिक्त कुछ सिद्धियां जो लोक में अत्यधिक प्रचलित हैं उनके विषय में संक्षेप से आगे बताया जा रहा है। योगदर्शन के तीसरे पाद, विभूतिपाद में धारणा, ध्यान और समाधि से होने वाली सिद्धियों की विस्तृत जानकारी दी गई है। पाठक इस पाद को पढ़के यह जानकारी प्राप्त कर सकता है। इसी पाद में 'संयम' शब्द का सिद्धियों के परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक प्रयोग किया गया है। यह लोक में प्रचलित संयम शब्द से भिन्न है। साधना के क्रम में संयम शब्द किसी पदार्थ पर ध्यान केंद्रित करने के उपलक्ष्य में प्रयोग किया गया है।

जब धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ही किसी एक ही विषय या पदार्थ पर केन्द्रित किये जाते हैं तो उसे संयम की संज्ञा प्रदान की गई है। संयम करने से पदार्थ का विशेष और सूक्ष्म ज्ञान उपलब्ध होता है। इसी प्रक्रिया में जब पृथ्वी, जल अग्नि आदि स्थूल भूतों पर संयम किया जाता है तो भूतों पर विशेष अधिकार प्राप्त होता है और ये भूत साधक के बन्धन का कारण नहीं बनते। इन भूतों के संयम से 'अणिमादि' सिद्धियां उपस्थित होती हैं।

अणिमादि आठ सिद्धियां

अणिमा - शरीर को अणु बना लेना

लघिमा - शरीर को काफी सीमा तक हल्का कर लेना

महिमा - शरीर को काफी सीमा तक विशालकाय बना लेना

प्राप्ति - चन्द्रमा को मानसिक कल्पना से अंगुली के अग्र भाग से छूना

प्राकाम्य - इच्छानुसार प्राप्त करने की क्षमता

वशित्व - सभी भूतों को वश में करने की क्षमता

ईशित्व - भूमि आदि से कुछ पदार्थों से नये पदार्थ उत्पन्न करने और उनको जिस स्थिति में चाहे उस में रख पाने की क्षमता

यत्रकामावसायित्व - साधक के ज्ञान, बल, से सत्यसंकल्प करने की क्षमता

सिद्धियों के विषय में विशेष बात

जितनी भी सिद्धियां हैं सभी प्रमुखता से इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि शरीर के उपकरणों की क्षमता को उत्कृष्ट होने के परिप्रेक्ष्य में देखी जानी चाहिएं अन्यथा नहीं। अर्थात् अणिमा सिद्धि से जिसमें शरीर को अणु बनाने की क्षमता प्राप्त होने की बात कही गई है, इसका केवल इतना ही अर्थ लेना युक्तिसंगत है कि शरीर को जितना सम्भव है पतला बना लिया जाये न कि बिल्कुल अणु समान। अन्य सिद्धियों के विषय में ऐसा ही समझना चाहिए।

****

ग्यारहवां अध्याय
असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्ति के उपाय

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेशाम ।। १/२० ।।
समाधिपाद योगदर्शन

योगदर्शन के समाधिपाद में सूत्रकार ने अभ्यास और वैराग्य को चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के उपाय बताए हैं। इसी अध्याय के उपर्युक्त सूत्र में सूत्रकार ने, उपायप्रत्यय योगियों के असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुंचने के उपाय भी उल्लेखित किये हैं। ये उपाय हैं - श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। व्यासभाष्य में इन्हें विस्तार से समझाया गया है।

श्रद्धा - समाधि प्राप्ति के संदर्भ में श्रद्धा का अभिप्राय है योगाभ्यास के अनुष्ठान में अभिरूचि, तीव्र इच्छा। श्रद्धा साधक की उसी प्रकार रक्षा करती है जैसे माता अपने शिशु की। यह निश्चित है कि श्रद्धा के अभाव में योगाभ्यास में उन्नति नहीं प्राप्त हो सकती।

वीर्य - वीर्य का अर्थ है योगाभ्यास का यथाशक्ति अनुष्ठान करना। यदि फल प्राप्ति में विलम्ब भी प्रतीत हो रहा हो तो भी उत्साहहीन न होते हुए और अधिक उत्साह से प्रयास करना। यही उत्साह अन्ततः सफलता का हेतु बनता है।

स्मृति - स्मृति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। योगाभ्यास के उत्तम परिणाम साधक के चित्त में संस्काररूप में अन्वित हो जाते हैं। जब कभी साधक को फल की प्राप्ति के अभाव में खिन्नता हो रही हो तब यही पूर्व सफलता की स्मृति साधक को पुनः उत्साहित कर नवीन ऊर्जा का संचार उत्पन्न करती है और प्रयास जारी रखने के लिए प्रेरित करती है।

समाधि - निरन्तर श्रद्धा और उत्साह सहित योगाभ्यास से साधक को सम्प्रज्ञात समाधि की उन्नत अवस्था प्राप्त होती है। यह स्थिति असम्प्रज्ञात समाधि का कारण बनती है।

प्रज्ञा - सम्प्रज्ञात समाधि की श्रेष्ठ स्थिति में उत्कृष्ट प्रज्ञा उत्पन्न होती है जिसे प्रज्ञाविवेक कहते हैं। इसकी सिद्धि होने पर प्रकृति और पुरुष की पृथकता का ज्ञान होता है जिससे परवैराग्य की स्थिति बनती है। उस परवैराग्य से आगे जा कर असम्प्रज्ञात समाधि की उपलब्धि होती है।

इसी संदर्भ में सूत्रकार उद्धृत करते हैं कि ऊंचे वैराग्य और अभ्यास करने वाले साधकों को शीघ्र ही समाधिलाभ होता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर प्रणिधान के, जो पूर्व में अष्टांगयोग ओर क्रियायोग के संदर्भ में उल्लेखित कर दिया गया है, अनुष्ठान से भी समाधि प्राप्त होने में गति मिलती है।

****

बारहवां अध्याय
योगसाधना में विघ्न

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ १/३० ॥ समाधिपाद योगदर्शन

अर्थात्

समाधि प्राप्ति में व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकतत्व और अनवस्थिततत्व चित्त को विक्षिप्त करनेवाले कारण, योग में विघ्न (अन्तराय) हैं।

व्याधि - धातु (वात, पित्त, कफ) का विषमता में होना, रस (भोजन से बने रस) का विषमता में होना, इन्द्रियों का ठीक प्रकार से कार्य न करना, कोई अन्य शारीरिक विषमता आदि

स्त्यान - योग के अनुष्ठान करने की क्षमता होते हुए भी चित्त की अकर्मण्यता, योगाभ्यास में अप्रीति

संशय - एक ही विषय में दो परस्पर विरूद्ध ज्ञानों का होना

प्रमाद - योग साधनों का अनुष्ठान न करना

आलस्य - शरीर भारी होने के कारण योग के अनुष्ठान में प्रवृत्ति न होना

अविरति - विषयों के भोगों में आसक्त रहना

भ्रान्तिदर्शन - मिथ्या ज्ञान, यथार्थ से विपरीत समझना

अलब्धभूमिकतत्व - समाधि का प्राप्त न होना

अनवस्थितत्व - प्राप्त हुई समाधि की भूमि पर चित्त का स्थिर न होना

उपर्युक्त नौ चित्त के विक्षेप, योग के मल, योग में विघ्न कहे गये हैं।

साधक को सर्वदा जागरूक रहना चाहिए कि इन विघ्नों से बचा जाए और यदि अकस्मात् कारणों से विघ्न उपस्थित होते हुए प्रतीत हों या वास्तव में उपस्थित हो जाएं तो प्रयासपूर्वक आए हुए विक्षपों को दूर करे। इसके लिए ईश्वर प्रणिधान अत्यन्त कारगर उपाय बताया गया है।

****

तेरहवां अध्याय
पांच क्लेश

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ।। २/३ ।।
साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणां ।। २/४ ।।
साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

पूर्व सूत्र में अविद्या शब्द से आगे पढ़े गये अस्मितादि क्लेश जो चित्त में प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं, उनकी उत्पत्ति भूमि अविद्या है।

उपर्युक्त कहे गये पांच क्लेश समस्त दुःखों के मूल में हैं, समस्त दुःखों का आधार हैं, समस्त दुःखों की प्रसव भूमि हैं। इस कारण से साधक ही नहीं परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए इनके विषय में सूक्ष्मता से जान लेना अति आवश्यक है क्योंकि इस जानकारी के पश्चात ही इन क्लेशों को क्षीण करने की दिशा में प्रवृत्ति बन सकती है।

अविद्या दो रुप में देखी जा सकती है। पहला ज्ञान का अभाव और दूसरा विपरीत ज्ञान। वर्तमान प्रसंग में अविद्या का अर्थ विपरीत ज्ञान लेना अधिक संगत बैठता है जैसा कि आगे व्याख्या से स्पष्ट होगा।

अविद्या या मिथ्या ज्ञान की उपस्थिति निम्नलिखित चार में स्वीकार की गई है।

अनित्य में नित्य देखना

अशुचि में शुचि देखना

दु:ख में सुख देखना

अनात्म में आत्मा देखना

अनित्य में नित्य देखना

कुछ पदार्थ, परिस्थिति, व्यक्ति आदि को यदि अलग रखा जाए तो यह संसार, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पर्वत, नदी, सागर, दिन रात का होना, ऋतु आदि सभी नित्य हैं और कभी प्रलय को प्राप्त नहीं होंगें, ऐसा देखने और अनुभव में आता है। ऐसा ही हम अपने माता-पिता, उनसे भी पूर्व में हमारे पूर्वजों से सुनते आए हैं। इससे स्वाभाविक है कि हमें कुल मिला कर नित्यता की ही प्रतीति होती है।

इस परिप्रेक्ष्य में यह समझना अति आवश्यक है कि यदि अल्पायु (० से ३२ वर्ष) और मध्यायु (३२ से ६४ वर्ष) वाले व्यक्तियों को अलग रखा जाए, तो मनुष्य का जीवन काल औसतन अधिकतम १०० वर्षों

तक देखा जाता है। ईशोपनिषद का, जो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है, आयु के प्रसंग में यह मन्त्र उल्लेखनीय है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा: ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। २ ।।
ईशोपनिषद

अर्थात्

मनुष्य को सदैव कर्म करते हुए सौ (शतं) वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। ऐसा करने से कर्म नहीं बांधते और इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय भी नहीं है।

मनुस्मृति में महासर्ग से महाप्रलय तक का काल ब्रह्मा के १०० दिव्य वर्ष माना गया है। ब्रह्मा के एक दिन को एक कल्प की संज्ञा दी गई है। एक कल्प में १४ मन्वन्तर या लगभग १००० चतुर्युग माने गये हैं। एक चतुर्युग में १२००० दिव्य वर्ष अर्थात् १२००० x ३६० = ४३,२०,००० मानव वर्ष होते हैं (१ दिव्य वर्ष = ३६० मानव वर्ष)। इस गणना से एक कल्प में ४३,२०,००० x १००० = ४३,२०,०००,००० मानव वर्ष हुए अर्थात् ४३२ करोड़ मानव वर्ष। इसी को आगे ले जाते हुए ब्रह्मा के सौ दिव्य वर्ष की आयु में ३६० x १०० x ४३,२०, ०००,००० = १५,५५२, ००० करोड़ मानव वर्ष हुए। यह अंक दिन की गणना के अनुसार हुआ। रात्रि के समान काल की जोड़ से ब्रह्मा के सौ दिव्य वर्ष ३१,१०४,००० करोड़

अर्थात् ३११ नील १० खरब ४० अरब मानव वर्ष हुए । इसे महाकल्प कहते हैं।

उपर्युक्त गणना से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि मानव जीवन के सौ वर्ष, ३११ नील १० खरब ४० अरब संख्या की तुलना में अत्यधिक अणु संख्या समान है। ऐसे में, यद्यपि सृष्टि का प्रलय अवश्यंभावी है जैसा कि शास्त्रों में उल्लेखित है और परिणाम स्वरूप सब उत्पन्न पदार्थ, स्थिति आदि अनित्य हैं क्योंकि अन्ततः सभी प्रलय को प्राप्त होंगे, तथापि व्यक्ति इस अनित्यता को पूरी तरह आत्मसात नहीं कर पाता और अनित्य को नित्य मानते हुए उस में सुख तलाशता है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अनित्य समझते हुए सम्पूर्ण भौतिक सुखों को त्याग देना चाहिए। सुख लेने का निषेध नहीं है परन्तु सुख लेते समय व्यक्ति को वास्तविकता का ज्ञान रहेगा तो सुख की समाप्ति पर उसे सुख के वियोग की विशेष पीड़ा या कष्ट नहीं होगा। वस्तु:स्थिति से अज्ञात रहना या स्वीकार न करना ही बन्धन और दु:ख का कारण है।

अशुचि में शुचि देखना

योग दर्शन में शौच/शुचि का विषय अत्यधिक गम्भीरता से उल्लेखित किया गया है। शौच को अष्टांग योग के दूसरे अंग नियम का पहले नियम के रुप में प्रस्तुत किया गया है। यह इस पुस्तक के आठवें अध्याय में पहले ही उद्धृत कर दिया गया है। प्राय: शरीर की बाह्य शुचि के आधार पर किसी व्यक्ति को साफ /शुद्ध मान लिया

जाता है। कुछ अंशों में यह ठीक भी है। जीवन में शरीर की शुद्धि अनगिनत बार करनी पड़ती है और यही शरीर की निरन्तर अशुद्ध होते रहने का प्रमाण है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में उद्धृत किया गया है कि जहां से शरीर का जन्म होता है वह स्थान अत्यधिक अशुद्ध है, जिन झिल्लियों में जन्म से पूर्व शिशु का शरीर लिपटा रहता है और जिन स्रावों में अन्वित रहता है सभी अत्यधिक अशुद्ध हैं। शरीर को निरन्तर शुद्ध रखने की, जीवन की अनेक महत्वपूर्ण क्रियाओं में अत्यंत आवश्यकता है। व्यासभाष्य में इस संबंध में आगे कहा गया है जिस समय स्त्री पुरुष में नये संबंध स्थापित होते हैं उस समय, पुरुष के द्वारा स्त्री को और स्त्री के द्वारा पुरूष को शुद्धता की पराकाष्ठा में देखा जाता है। चन्द्रमा जो पृथ्वी से उज्जवल, पवित्र श्वेत प्रतीत पड़ता है, स्त्री की उससे तुलना की जाती है। ये विचार अविद्या के कारण होते हैं। यहां पुरुष स्त्री के सामाजिक नियम और विधान अनुसार, सम्बन्ध बनाए जाने पर, कोई आपत्ति नहीं दर्शायी जा रही अपितु जिस शरीर के अशुद्ध होते हुए भी जिस शुद्धता के पायदान पर स्त्री पुरुष एक दूसरे को रखते हैं केवल उसको उल्लेखित किया जा रहा है। यह अशुद्ध में शुद्ध देखना है।

दु:ख में सुख देखना

भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं -

ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त: कौन्तेय न तेषु रमते बुध: ।। ५/२२ ।। गीता

अर्थात्

क्योंकि हे कुन्तीनन्दन, जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होने वाले भोग (सुख) हैं वह आदि - अन्तवाले हैं और दु:ख के ही कारण हैं। विवेकशील मनुष्य उनमें रमण नहीं करता।

उपर्युक्त श्लोक से 'दु:ख में सुख देखना' का अर्थ गहराई से समझा जा सकता है। इसका अभिप्राय है कि जब मनुष्य इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से सुख अनुभव करता है उस काल में वह इस बात से अनभिज्ञ रहता है अथवा यह स्वीकार नहीं करना चाहता कि यह सुख स्थायी नहीं है अपितु कुछ काल के लिए है, क्षणभंगुर है और अन्ततः इस भोग से अधिकतर ग्लानि ही प्राप्त होगी। इसी तरह जब विवाह होता है स्त्री पुरुष समझते हैं यह सम्बन्ध चिरस्थाई है, नवजात शिशु के जन्म के समय ऐसा प्रतीत होता है कि यह शिशु सर्वदा संग रहेगा आदि। परन्तु यह असम्भव है। जो असत्य है उसे हम सत्य मान रहे हैं। जब ऐसा नहीं होता तो दु:ख असहनीय हो जाता है। ये सभी उदाहरण दर्शाते हैं कि हम प्रायः दु:ख में सुख देखते हैं।

यहां किसी शुभ घटना या अवसर को लेकर सुख अनुभव करने का निषेध नहीं है परन्तु यह कहा जा रहा है कि सुख को मिथ्याज्ञान से अन्वित नहीं अपितु सत्य के चक्षु से देखना चाहिए।

अनात्म में आत्मा देखना

इसका अर्थ है जो ‘मैं’ नहीं है उसे ‘मैं’ समझना। अन्य शब्दों में जड़ को चेतन समझना। चौथे अध्याय में चित्त और अन्य उपकरणों की उत्पत्ति की प्रक्रिया उल्लेखित की गई है। शरीर पंचमहाभूतों से बना है जिसमें पृथ्वी तत्व प्रधानता से विद्यमान है और इसी प्रधानता हेतु शरीर को ‘पार्थिव’ का विशेषण दिया जाता है। यह शरीर जड़ है और आत्मा के संयोग से यह जीव कहलाता है। शरीर की भांति चित्त समेत सभी अन्य उपकरण और अंग भी जड़ हैं। यह सूचना केवल और केवल शब्द प्रमाण से प्राप्य है अन्यथा नहीं। यदि इस विषय में जानकारी किसी आप्त पुरुष या विद्वान से प्राप्त होती है तो यही समझना चाहिए कि उस आप्त पुरुष या विद्वान की सूचना का स्रोत भी प्रमाणित शास्त्र ही हैं। जीवन यापन के लिए, मनुष्य, विभिन्न उपकरणों की सहायता लेता है। कुछ उपकरण तो शारीरिक हैं जिसमें कर्मेंद्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि और अहंकार का ग्रहण किया जाता है और कुछ शरीर के भी बाहर हैं जैसे सफर के लिए वाहन, शीतता - उष्णता - वर्षा आदि से सुरक्षा के लिए आवास, पढ़ने - पढ़ाने के लिए पुस्तक, रसोईघर में खाद्य पदार्थ बनाने के लिए खाद्य सामग्री और पात्र आदि और इसी प्रकार कई अन्य उपकरण। इन सभी में चेतनता नहीं है परन्तु जड़ता है। मनुष्य जब उल्लेखित चेतन तत्वों से व्यवहार करता है या जड़ उपकरणों का निरन्तर प्रयोग करता है तब इनको अपना मानने लगता है। अन्य शब्दों में इन में ‘मैं पन’ देखने लगता है। लोक में सृष्टि के आरंभ से ही साधारण मनुष्य में यही मान्यता रही है कि जो उसके पास ऊपर कहे गये उपकरण हैं उन

पर उसका स्वामित्व है और उनके प्रयोग का उसी को अधिकार है या जिन को उसने अधिकृत किया हो। यह ठीक भी है और इसका स्थूल रूप से कोई निषेध भी नहीं क्यों कि ऐसा न होने पर लोक में यथायोग्य व्यवहार चलना असम्भव हो जायेगा और एक अव्यवस्था का वातावरण हो जाएगा।

यहां गौर करने वाली बात यह है कि ऊपर कहे गये बाह्य उपकरणों को मनुष्य अपने से पृथक न मानते हुए उन में इस प्रकार का आरोप कर लेता है जैसे कि वे सभी वह स्वयं हो अर्थात् उसे प्रतीत होता है कि ये सब 'मैं हूं'। यही मान्यता मनुष्य उनमें रखता है जो चेतन हैं - जैसे पत्नी के लिए पति और पति के लिए पत्नी, अपने पुत्र - पुत्री, नाति पोते, माता पिता, पालतू पशु जैसे कुत्ता, गाय, भैंस आदि। जैसे पूर्व में कहा गया इन्हें लोक व्यवहार की दृष्टि से अपना कहना बिल्कुल त्रुटिपूर्ण नहीं है परन्तु इन्हें 'मैं' मानना अवश्य 'अविद्या' को दर्शाता है। इन में से किसी के भी वियोग पर यदि इन में 'मैं पन' रखा जाए तो दुःख कई गुना अधिक बढ़ जाता है और इस के विपरीत इन में विवेकशीलता से, इनकी आवश्यकता और उपयोगिता को देखते हुए, व्यवहार किया जाए तो उससे इनके वियोग के अवसर पर इतनी पीड़ा नहीं होगी। इसका ज्ञान सर्वदा रहना अपेक्षित है कि आत्मा और परमात्मा के अतिरिक्त सम्पूर्ण कार्य जगत् नश्वर है और ऊपर कहे गये उपकरण भी अन्ततः नाश को प्राप्त होंगें ही - यह अटल सत्य है।

शरीर से बाह्य उपकरणों की तरह मनुष्य अपने शरीर और अपनी इन्द्रियों में भी 'मैं पन' की मान्यता कर बैठता है और शरीर के किसी भी अंग के क्षतिग्रस्त होने पर जितनी मात्रा में दु:ख होना चाहिए उससे कहीं अधिक मात्रा में पीड़ा प्रतीत होती है। इस अधिकता वाली पीड़ा या दु:ख को अतिरंजित दु:ख कहते हैं - यह पूर्णतः परिहार्य है।

क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार अवस्था

क्लेशों का सूक्ष्म कारण चित्त में विद्यमान राग और द्वेष के संस्कार हैं और इनका स्थूल रूप जो व्यवहार में देखने में आता है - क्रोध, लोभ, काम और मोह है। ये चार सब विकारों में मुख्य हैं और जितने भी अन्य विकार हैं सभी इन चार में अन्तर्भावित हैं। ये विकार प्रत्येक क्षण या हर काल में एक समान नहीं रहते, अपितु परिस्थिति अनुसार इनकी प्रबलता कमाधिक होती रहती है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है।

जो विकार वर्तमान में उभरा हुआ न हो उसे प्रसुप्त कहते हैं। परन्तु आलम्बन की स्थिति उत्पन्न होने पर यही विकार उभारता को प्राप्त हो व्यक्त हो जाते हैं और इन की यह अवस्था उदार अवस्था कहलाती है। जब योगाभ्यास और अन्य साधनों से विकार क्षीणता की ओर अग्रसर हों तो कहा जाता है कि क्लेश तनु हो रहे हैं अर्थात् कम हो रहे हैं।

यदि व्यक्ति अत्यन्त क्रोध की स्थिति में हो और उसी समय उसके सम्मुख कोई ऐसा आलम्बन प्रस्तुत हो जिस में उसका अत्यधिक अनुराग है, तब यह सम्भावित है कि उसका क्रोध शान्त हो जाये और वह राग के आलम्बन की ओर आकर्षित हो जाए। ठीक इसी प्रकार विपरीत स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है जिस में वह शान्त, आकर्षण की स्थिति से, ऐसे पदार्थ या व्यक्ति के आलम्बन पर जिससे उसे द्वेष है, अत्यधिक क्रोध की स्थिति में चला जाए। इस स्थिति को विच्छिन्न अवस्था कहते हैं।

जिस स्थिति, व्यक्ति, पदार्थ आदि से सुख की अनुभूति हो वह 'राग' क्लेश में समाहित है और जिससे दु:ख या पीड़ा की अनुभूति हो वह आलम्बन 'द्वेष' क्लेश का कारण बनता है।

अनात्म में आत्मा समझना ही 'अस्मिता' क्लेश है। यह पूर्व में विस्तार से समझाया जा चुका है।

'अभिनिवेश' क्लेश मनुष्य के मृत्यु के भय के संदर्भ में प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति साधारणत: मरना नहीं चाहता और यह जानते हुए भी मृत्यु अवश्यंभावी है, वह सदैव जीना चाहता है। इसी को ' अभिनिवेश' क्लेश कहते हैं।

****

चौदहवां अध्याय
दुःख के प्रकार

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।। १/१ ।।
सांख्यदर्शन

अर्थात्

तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त (पूर्ण) निवृत्ति मनुष्य का अन्तिम प्रयोजन (अत्यन्त पुरुषार्थ) है उसके प्रतिपादक शास्त्र (अथ) का आरंभ करते हैं।

महर्षि कपिल कृत सांख्यदर्शन के उपर्युक्त उद्धृत प्रथम सूत्र में मोक्ष को वह स्थिति बताया गया है जिस में सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा मिल जाता है जिसके पश्चात जीव का और कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता। अन्य दर्शन शास्त्रों की भांति सांख्यदर्शन भी मोक्ष शास्त्र कहा जाता है। इस सूत्र में जिन तीन प्रकार के दुःखों को इंगित किया गया है वे हैं आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख।

आध्यात्मिक

जो दुःख स्वयं के कारणों से उत्पन्न होता है वह आध्यात्मिक दुःख कहलाता है। यह शारीरिक या मानसिक कोई भी हो सकता है। वात, पित्त, कफ आदि की विषमता, इन्द्रियों की अपने अपने कार्य करने

में क्षीणता, शारीरिक पीड़ा आदि से जो दु:ख उत्पन्न होता है वह शारीरिक दु:ख है। जो दु:ख इर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, राग आदि मनोविकारों से उत्पन्न होता है वह मानसिक दु:ख है।

आधिभौतिक

जो दु:ख अन्य भूतों (प्राणियों) के कारण होता है वह अधिभौतिक दु:ख है। इस में अन्य प्राणियों द्वारा मारना पीटना, उनके द्वारा कटु वचन कहे जाना, सांप, बिच्छू आदि से काटे जाना, किसी हिंसक पशु के द्वारा आघात पहुंचना आदि सम्मिलित हैं।

आधिदैविक

अतिवर्षा, हिमपात, आतप, भूकम्प, बाढ़ आदि जनित उत्पातों से जो दु:ख होता है वह अधिभौतिक दु:ख है।

उपर्युक्त वर्गीकरण में सब दु:खों का समावेश है।

पातांजल योगदर्शन के साधनपाद में दु:खों का एक भिन्न वर्गीकरण किया गया है। इन उल्लेखित दु:खों में अनुभव में आने वाले सम्पूर्ण दु:खों का समावेश नहीं है परन्तु ऐसे दु:ख उद्धृत हैं जिनको जानकर साधक, उनका परिहार कर साधना में सिद्धि प्राप्त कर सके। इन दु:खों को विस्तार से समझाया जा रहा है।

परिणाम, ताप, संस्कार और गुणवृत्तिविरोध दु:ख

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।। २/१५ ।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

परिणाम दु:ख, ताप दु:ख और संस्कार दु:ख और गुणवृत्तिविरोध से होने वाले दु:ख सभी विवेकी योगी के लिए दु:ख ही हैं।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि उल्लेखित दु:ख केवल योगियों को ही दु:ख प्रतीत होते हैं साधारण जन को नहीं।

इन चारों दुःखों को समझने से पहले सुख और राग तथा दु:ख और द्वेष के परस्पर सम्बन्ध को संक्षेप में समझना आवश्यक है।

सुखानुशयी रागः ।। २/७ ।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

सुख भोगने के पश्चात, अन्त:करण में सुख और सुख के साधनों के प्रति बने रहने की जो इच्छा है वह 'राग' नामक क्लेश है।

जब व्यक्ति सुख का अनुभव करता है तब उस सुख और उसके साधनों के संस्कार चित्त में अंकित हो जाते हैं। कालांतर में उन सुख के साधनों के उपस्थित होने पर ये संस्कार उद्भूत हो जाते हैं और पूर्व में सुख प्राप्त करने के अनुभव की स्मृति उत्पन्न होती है जिस को पुनः प्राप्त करने की इच्छा जागृत होती है। यह इच्छा 'राग' है।

दुःखानुशयी द्वेषः ।। २/८ ।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

दु:ख भोगने के पश्चात, दु:ख और दु:ख के साधनों के प्रति जो उनके विनाश की, अन्त:करण में रहने वाली इच्छा है वह 'द्वेष' क्लेश कहलाता है।

जब व्यक्ति दु:ख का अनुभव करता है तब उस दु:ख और उस दु:ख के साधनों के संस्कार चित्त में अंकित हो जाते हैं। कालांतर में जब आलम्बन के उपस्थित होने पर वे संस्कार उद्भूत हो जाते हैं तो स्मृति उत्पन्न होती है। इस स्मृति से पूर्व अनुभव में आए दु:ख के कारणों के प्रति उनको हटाने की तीव्र इच्छा ही 'द्वेष' है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि, जो मुख्य विकार स्वीकार किये जाते हैं, के मूल में 'राग' और 'द्वेष' ही विद्यमान हैं। राग और द्वेष सूक्ष्म तथा काम, क्रोध, लोभ आदि उन विकारों का स्थूल रूप है।

परिणाम दु:ख

जब व्यक्ति इन्द्रियों और उनके विषयों के सन्निकर्ष होने पर सुख का अनुभव करता है तो उस सुख और उन विषयों के प्रति राग उत्पन्न होता है जिससे न केवल रागजनित संस्कार बनते हैं परन्तु कर्माशय भी बनता है। उस विषयसुख को बार बार भोगने से राग की वृद्धि होती है और सम्बंधित इन्द्रियों की कुशलता भी बढ़ती रहती है। इसका अभिप्राय है कि सुख प्राप्ति के आरंभ काल में जहां कम मात्रा के भोग से ही इन्द्रियां तृप्त हो जाया करती थीं, कालांतर में तृप्ति के

लिए अधिक अधिक मात्रा के भोग की आवश्यकता पड़ना शुरू हो जाती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विषयसुख का भोग, उस सुख की लालसा को बढ़ाता ही जाता है। इस सुख की प्राप्ति, कुछ अनियंत्रित स्थितियों में, व्यक्ति के जीवन का प्रमुख लक्ष्य बन जाती है। इस भोग की प्राप्ति में अवरोध उत्पन्न करनेवाले कारणों के प्रति, भोगी में अत्यधिक द्वेष उत्पन्न हो जाता है जो तीव्र होते होते अत्यन्त भयानक और आक्रामक हो जाता है। इस स्थिति में व्यक्ति गम्भीर से गम्भीर पापकृत्य करने में भी संकोच नहीं करता और भीषण पतन को प्राप्त होता है। विषयसुख की लालसा से अन्वित चित्त वाला भोगी व्यक्ति उस भोग में सुख के अतिरिक्त कुछ और नहीं देखता। परन्तु विवेकज्ञान प्राप्त योगी इस सुख का कालान्तर में भीषण दु:ख में परिणत होना पूर्व में ही देख लेता है और इस 'परिणाम दु:ख' से युक्त कही जानेवाली भीषण स्थिति से अपने को बचा कर रखता है।

ताप दु:ख

विषयसुख प्राप्ति के लिए भोगी शरीर, वाणी और मन से निरन्तर प्रयास करता रहता है। जहां स्थिति अनुकूल नज़र आती है वहां वह अनुग्रह करता है और जहां प्रतिकूल वहां उसका हनन करता है। दोनों ही स्थितियों में धर्माधर्म का कर्माशय बनता है। प्रारब्ध समय आने पर इस कर्माशय में अन्वित संचित कर्म जब फल देने के लिए उन्मुख हो जाते हैं तो व्यक्ति पुनः विषयभोग और धर्माधर्म कर्मों में

बिंध जाता है। यह चक्र चलता रहता है और भोगी व्यक्ति बन्धन में जकड़ा हुआ मुक्ति को प्राप्त नहीं हो पाता। यही 'ताप दु:ख' कहलाता है।

संस्कार दु:ख

विषयसुख के निरन्तर भोगे जाने पर उस सुख और भोग के संस्कार दृढ़ होते जाते हैं ओर चित्त में अंकित हो जाते हैं। केवल शास्त्रसम्मत तप और यम नियम आदि योगांगों के नियमित अनुष्ठान से ही ये विपरीत संस्कार क्षीण किये जा सकते हैं अन्यथा नहीं। भोगी व्यक्ति की विषयसुख में आसक्ति की वृद्धि उसे योगाभ्यास के मार्ग की ओर अग्रसर नहीं होने देती। इन भोग के संस्कार व्यक्ति को और अधिक भोगों की ओर आकर्षित करते हैं और उनसे और क्लिष्ट संस्कार उत्पन्न होते हैं। यह प्रक्रिया चलती ही रहती है और भोगी सांसारिक भोगों के बन्धनों से मुक्त नहीं हो पाता। यह 'संस्कार दु:ख' कहलाता है। योगी इस संस्कार दु:ख को पहचान लेने में सक्षम होता है भोगी कदापि नहीं। भोगी के लिए इन दु:खों से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है सम्यक दर्शन अर्थात् सम्यक यथार्थ ज्ञान जिससे मिथ्या ज्ञान का क्षय होता है।

गुणवृत्तिविरोध दु:ख

जैसा उपर कहा गया, परिणाम, ताप और संस्कार दु:खों का, केवल विवेकशील योगी ही, जीवित अवस्था में परिहार करने में सक्षम होता है और उन से बचा रहता है न कि भोगी। परन्तु गुणवृत्तिविरोध दु:ख

से जीवनमुक्त व्यक्ति भी बचा नहीं रह सकता। जब तक जीवन है, जब तक शरीर चेतन आत्मा से युक्त विद्यमान है, तब तक इस दु:ख को स्वीकार करते हुए उसको सहना पड़ता ही है।

जैसा कि सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया में बताया गया, इस कार्य जगत् की प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है। इस क्रम में बुद्धि भी त्रिगुणात्मक है। सत्त्वगुण का ज्ञान और सुख, रजोगुण की प्रवृत्ति एवं दु:ख और तमोगुण की स्थिति और मोह मुख्य लक्षण हैं। जब किसी पदार्थ या व्यक्ति को सात्विक गुण से बिंधा कहा जाता है उस कथन का अभिप्राय सत्त्व गुण की प्रधानता को लेकर होता है अर्थात् सत्त्वगुण की अधिकता से और रजोगुण तथा तमोगुण की गौणता से। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण प्रधान पदार्थ/व्यक्ति के प्रसंग में भी देखा जाना चाहिए। ये तीनों गुण आपस में एक तन्त्र सा बना एक दूसरे का अनुग्रह करते हैं। जो गुण प्रधानता से विद्यमान रहता है बाकी दो उसका अनुसरण करते हैं। कोई भी गुण किसी पदार्थ या व्यक्ति में शत प्रतिशत नहीं रह सकता। यह सृष्टि का मूलभूत सिद्धांत है। यही जीवन के लिए हितकर भी है और निरपवाद जीवन के प्रत्येक क्षेत्र या प्रसंग में प्रयुक्त होता है।

उदाहरण

जब मनुष्य रजोगुण से अन्वित अति परिश्रम करने के पश्चात थक जाता है तो आराम की अपेक्षा रखता है तो इस में तमोगुण के कारण ही व्यक्ति निद्रा प्राप्त कर पाता है और आराम की अनुभूति करता है।

यद्यपि उसके जीवन का स्तर अधिक सुविधाओं से वंचित हो तथापि मूढ़ से मूढ़ मनुष्य भी अपना जीवन यापन तो करता ही है। ऐसे व्यक्ति में, आलस्य और मोह का कारक तमोगुण प्रधानता से अवश्य रहता है, परन्तु सत्त्वगुण और रजोगुण की विद्यमानता, गौण होते हुए भी, उसको जीवन यापन के लिए जो न्यूनतम ज्ञान और क्रियाओं की आवश्यकता है, उपलब्ध कराती है। अन्यथा तमोगुण प्रधान मनुष्य का जीवन यापन सम्भव ही न हो सके।

जो योगी विवेक से सुख की प्रतीति देने वाले परिणाम, ताप और संस्कार दु:खों में सुखों को न देख कर अनागत दु:खों को देख लेता है और उनमें रमण नहीं करता, वह गुणवृत्तिविरोध को दु:ख रूप तो देखता है पर उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता और उसे सहना ही पड़ता है। जब तक शरीर विद्यमान है तब तक भूख प्यास मिटाना, निद्रा, शौच, जीवन यापन के लिए न्यूनतम राशि अर्जित करना आदि अनिवार्य हैं। ये सब एक प्रकार के दु:ख ही हैं और इनसे शरीर छूटे बिना निस्तारण नहीं हो सकता।

****

पंद्रहवां अध्याय
दुःखों के कारण और उनकी निवृत्ति

आयुर्वेद चतुर्वयूह स्वीकार किया जाता है अर्थात् आयुर्वेद में उल्लेखित चिकित्सा पद्धति चार स्तम्भों पर टिकी है। ये चार स्तम्भ हैं।

१) रोग के विषय में जानकारी २) रोग के कारण ३) आरोग्यता के लक्षण ४) रोग निवारण औषधि

आयुर्वेद के समान योगदर्शन भी चतुर्व्युह है। यह इन चार स्तम्भों पर टिका है।

१) हेय - जो त्यागने योग्य है

२) हेयहेतु - हेय का त्यागने का कारण

३) हान - प्राप्त करने योग्य अर्थात् मोक्ष

४) हानुपाय - मोक्ष प्राप्ति का उपाय

हेयं दुःखमनागतं ।। २/१६ ।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

भविष्य में आनेवाला (अनागतं - जो अभी आया नहीं) दु:ख ही त्याज्य है अर्थात् जो दु:ख अभी प्राप्त नहीं हुआ है केवल उससे ही बचा जा सकता है।

जो दु:ख अतीत में भोगा जा चुका है उसका निस्तारण नहीं हो सकता क्योंकि वह पूर्व में भोगा जा चुका है। वर्तमान का दु:ख भोगा जा रहा है अर्थात् वह अतीत में आया हुआ है और उसका भोग अभी पूर्ण नहीं हुआ है। उसका त्याग भी नहीं हो सकता। केवल अनागत दु:ख से ही बचा जा सकता है। इसलिए भविष्य में आनेवाला दु:ख ही हेय है, त्याज्य है।

बाधा, पीड़ा, अशांति, पराधीनता आदि का नाम दु:ख है। इस लिए दु:ख एक वस्तु है अभाव का नाम नहीं। दु:ख के त्यागने का विधान है। यदि वह अभाव होता तो उसके त्यागने का विधान न किया गया होता। शास्त्रों में दु:ख को गुण माना गया है जो प्राकृतिक पदार्थों में रहता है। जब आत्मा का प्रकृति से संयोग होता है तो दु:ख की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति अनागत दु:ख को और उसके कारण को जान लेता है वही इससे छुटकारा पा सकता है।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ २/१७ ॥ साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

जीवात्मा (द्रष्टा) और सत्त्व, रज और तम तथा उनसे बनी बुद्धि और समस्त पदार्थ (दृश्य) का अज्ञान पूर्वक सम्बन्ध (संयोग) ही दुःखों (हेय) का कारण (हेतु) है।

शब्द, स्पर्श, रूपादि विषय चुम्बक के समान सम्बन्धित इन्द्रियों रुपी लोहे को अपनी ओर आकर्षित करते हैं और इसी क्रम में इन्द्रियां चुम्बक के समान चित्त रूपी लोहे को आकर्षित करती हैं। चित्त, बुद्धि में प्राप्त विषयों के चित्र (दृश्य) को आत्मा (दृष्टा) देखता है और प्राप्त ज्ञान से सुख, दुःख का अनुभव करता है। अनुकूल स्थिति में सुख और प्रतिकूल स्थिति में दुःख की अनुभूति होती है। यह द्रष्टा - दृश्य का संयोग ही सम्पूर्ण दुःखों का हेतु है। जब यह सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तब सब दुःख उपहत हो जाते हैं। यह बन्धनमुक्त मोक्ष की अवस्था होती है और मनुष्य जन्म मृत्यु के चक्र से छुटकारा पा लेता है।

तस्य हेतुरविद्या ।। २/२४ ।। साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

उस संयोग का कारण अविद्या है।

अतः सम्पूर्ण दुःखों के कारण के मूल में अविद्या या मिथ्या ज्ञान है और इस अविद्या के हटने पर जब आत्मा और प्रकृति का सम्बन्ध पूर्णतया समाप्त हो जाता है तब ही सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति होती है और व्यक्ति जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।

यह पुस्तक, इस अविद्या को मिटा, उसके स्थान पर शुद्ध यथार्थ ज्ञान प्राप्ति के साधन, उपाय उद्धृत करने के लिए ही लिखी गयी है। यम नियम आदि योगांगों के नियमित अनुष्ठान से सम्यक दर्शन की स्थिति बनती है अर्थात् सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति की अवस्था उपलब्ध होती है जिसमें साधक को विवेक प्राप्त होता है। इस विवेक से प्रकृति पुरुष की पृथकता का स्पष्टता से ज्ञान प्राप्त होता है। यही ज्ञान सम्पूर्ण दु:खों से निवृत्त कर देता है और मनुष्य को ईश्वर का आनंद उपलब्ध होता है।

****

सोलहवां अध्याय
धारणा, ध्यान, समाधि का काल

प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि योगांगों की पूर्व में विस्तार से चर्चा हो चुकी है। इस अध्याय में इन सब का कितने काल तक अनुष्ठान करना चाहिए यह बताया जा रहा है।

यहां यह समझना महत्वपूर्ण है कि प्रत्याहार का, जो इन्द्रियों को वश में करने की प्रक्रिया से सम्बंधित है, कोई काल निर्धारित नहीं है। प्रत्याहार का अनुष्ठान, जागृत अवस्था में, सदा ही चलते रहना चाहिए। इसको आसन लगा कर नहीं किया जाता। यह जितना लोक व्यवहार काल में प्रासंगिक है उतना एकान्त काल में नहीं।

प्रायः ध्यान आदि लगाने का काल, प्राणायाम के काल को आधार बनाकर, निर्धारित किया जाता है। १२ श्वास प्रश्वास का एक प्राणायाम स्वीकार किया गया है। इसका समय व्यक्ति की अवस्था, स्वास्थ्य आदि पर निर्भर करता है। यदि एक प्राणायाम में ४० सैकेंड का न्यूनतम समय लगता है तो प्राणायाम निम्न , ६० सैकेंड का मध्य और ८० सैकेंड का उत्तम प्राणायाम कहलाता है। जितना समय एक प्राणायाम में लगता है उससे १२ गुना समय धारणा में, धारणा का १२ गुना समय ध्यान में और ध्यान का १२ गुना समय समाधि में लगाना स्वीकार किया गया है। जैसे प्राणायाम में निम्न, मध्य और

उत्तम वर्गीकरण किया गया है उसी क्रम में धारणा, ध्यान, समाधि का भी करना चाहिए।

निम्न प्राणायाम में यदि ४० सैकेंड का समय लगता है तो निम्न स्तर की धारणा का समय ४० x १२ = ४८० सैकेंड अर्थात् ८ मिनट हुआ, ध्यान का ४८० x १२ = ५७६० अर्थात् ९६ मिनट अर्थात् १ घंटा और ३६ मिनट - लगभग डेढ़ घंटा। इस गणना से समाधि के लिए न्यूनतम समय का आंकलन इस प्रकार होगा - ५७६० x १२ = ६९१२० सैकेंड अर्थात् १९.२ घंटे लगभग १९ घण्टे। इस क्रम में मध्य और उत्तम स्तर की धारणा, ध्यान और समाधि का समय का आंकलन किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त समय का निर्धारण केवल संकेत मात्र है। वास्तविक स्थिति साधक की अवस्था, स्वास्थ्य, उत्साह, अनुष्ठान में श्रद्धा आदि पर निर्भर करेगी। यह अवश्य ध्यान में रहना चाहिए कि अपनी क्षमता से अधिक प्रयास नहीं करना चाहिए और निरन्तर परिश्रम से धीमी गति से आगे बढ़ते रहना चाहिए जिससे कोई अप्रिय स्थिति या घटना का निर्माण न हो और हानि न हो सके।

****

सत्रहवां अध्याय
कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग - विशेष टिप्पणी

मुक्ति प्राप्ति के मार्ग को लेकर लोक में भिन्न भिन्न मान्याताएं हैं। इन मान्यताओं में सर्वाधिक प्रचलन में हैं कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग के मार्ग। यद्यपि योगसाधना के सभी प्रासंगिक विषयों की इस पुस्तक में विस्तार से चर्चा हो चुकी है तथापि यह उचित होगा कि अध्यात्म में बहुचर्चित इन तीनों - कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग - मोक्ष प्राप्ति के कहे जाने वाले उपायों के मुख्य बिंदुओं पर भी दृष्टि डाली जाए। अध्यात्म का विषय अत्यन्त गूढ़ है। इस में जितनी भी प्रामाणिक सूचना उपलब्ध हो पाए उतना उत्तम है। इससे आध्यात्मिक दृष्टि में और अधिक सूक्ष्मता प्राप्त होती है।

प्रायः समाज में आध्यात्मिक और धार्मिक मार्ग पर अग्रसर व्यक्तियों को सामान्य आजीविका व्यतीत करने वाले व्यक्तियों से भिन्न, श्रेष्ठता की दृष्टि से देखा जाता है। इस संदर्भ में, यह मान्यता प्रचलन में है, कि ऐसे धर्म से जुड़े व्यक्ति समाज का सही मार्ग दर्शन करने में बहूमूल्य योगदान करते हैं और कदापि निकृष्ट कृत्य नहीं कर सकते। यह काफी सीमा तक ठीक भी है परन्तु इनमें भी अनेकों अपवाद मिलते हैं। कई ऐसे उदाहरण हैं जहां अत्यन्त शिष्टाचार का पालन

कहे जाने वाले धार्मिक कार्यों में अन्वित व्यक्ति ऐसे पाप कृत्यों में लिप्त पाये गये हैं जो कल्पना से परे है। कहने का अभिप्राय यह है कि केवल शास्त्र का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं अपितु शास्त्रीय विधि-विधान आचरण में भी उतारे जाने अत्यन्त आवश्यक हैं। अच्छे और स्वच्छ आचरण के आत्मसात के साथ साथ यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति भी अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं जिससे समाज में आध्यात्मिक, धार्मिक और सामाजिक उन्नति के हेतु उचित और सही संकेत जा सकें। इसलिए कहा जाता है कि अध्यापक की समाज निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि मोक्ष की प्राप्ति के तीनों मार्ग के विषय में आवश्यक है इसलिए उद्धृत की गई। जो भी अध्यात्म से जुड़े व्यक्ति हैं अक्सर अपने अपनाये मार्ग का प्रचार, प्रयास करते हैं और अन्य मार्गों को गौण समझते हैं। इस में उनका दोष नहीं क्यों कि उनके साधना के काल में सम्भवतः उन्हें अपने गुरुओं से उसी दिशा में जाने की प्रेरणा मिली और परिणामस्वरूप उन्होंने उसी मार्ग को आत्मसात किया। प्रचलन में भी यही दिखता है। कोई जन पौराणिक हैं तो अन्य वैदिक दृष्टिकोण रखते हैं। पौराणिक भी, जो प्रमुखता से ईश्वर को साकार मानते हैं और मूर्ति पूजा में विश्वास करते हैं, भिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हैं जैसे शाक्त, वैष्णव, शैव आदि। वास्तव में यह भिन्नता ही संसार की विचित्रता का कारण है। दोष अपने इष्ट को मानने में या उस इष्ट या अपने गुरु के बताए मार्ग पर चलने में नहीं अपितु इस में है कि अन्य प्रचलित मान्यताओं का तिरस्कार करते हुए उन्हें

गौणता की दृष्टि से देखा जाए। यही दृष्टि आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग के अनुयायियों में देखी जा सकती है।

जो भक्तिमार्गी हैं, ज्ञान और कर्मयोग के मार्ग की अपेक्षा, पूजा उपासना को ही श्रेष्ठ मानते हैं और अन्य दो को गौण। उसी तरह कर्मयोगी कर्म पर केन्द्रित रहते हुए कर्मयोग को ही मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय मानते हैं। ऐसा ही दृष्टिकोण ज्ञानुपार्जन करने वाले साधक भी रखते हैं मुख्यतः वैदिक दृष्टि को श्रेष्ठतम मानने वाले।

सभी मार्गों का ध्येय एक ही है अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्ति पाकर मोक्ष प्राप्ति। यहां यह समझना अति आवश्यक है कि मुक्ति प्राप्ति का मार्ग किसी एक विशिष्ट मार्ग तक सीमित नहीं किया जा सकता। कर्म, भक्ति और ज्ञान मार्ग एक ही मुक्ति रुपी तिपाही के तीन पाद हैं और तीनों ही मोक्ष की सिद्धि के हेतु बनते हैं।

योगदर्शन में प्रतिपादित अष्टांगयोग में इन तीनों मार्गों का समावेश है। ईश्वर प्रणिधान पांचवा नियम है और क्रियायोग में चित्त शुद्धि के लिए तथा समाधि की शीघ्रता से प्राप्ति के प्रसंग में इसका अनुष्ठान विशेषता से उद्धृत किया गया है। ईश्वर प्रणिधान को भक्ति मार्ग से जोड़ कर देखा जा सकता है।

इसी प्रकार यम नियम का पालन, कर्मयोग के अनुष्ठान के समान ही स्वीकार करना चाहिए। कर्ममार्गी आचरण की शुद्धता के अभाव में कर्मयोग का अनुष्ठान नहीं कर सकता, सम्भव ही नहीं है। यदि

कर्मयोगी अपरिग्रह और सन्तोष जैसे विशिष्ट गुण आत्मसात नहीं करेगा तो कर्मयोग का सर्वोत्तम विधान का पालन नहीं कर पाएगा। कर्मयोगी से अपेक्षित है कि सम्पूर्ण कर्म निष्काम भाव से करे, अपने कहे जाने वाले पदार्थ अन्यों की सेवा में लगा दे और बदले में कोई अपेक्षा न रखे। इसको जीवन में उतारने के लिए निश्चित ही कर्मयोगी में अपरिग्रह और सन्तोष की विद्यमानता दोनों का होना सर्वोपरि है।

यथार्थ ज्ञान के अभाव में कर्म और भक्ति योग का अनुष्ठान दुष्कर हो जाएगा। यह ज्ञान प्राप्ति किसी भी स्रोत से हो सकती है। शास्त्रों से, आप्त वचनों से, वृद्ध अनुभवी व्यक्तियों से, स्वयं के अनुभव से आदि। कर्ममार्गी को क्या करना चाहिए क्या नहीं, निष्काम कर्म क्या होता है, कैसे किया जाता है आदि इन सभी के विषय में प्रमाणित ज्ञान आवश्यक है। इस दिशा में स्वाध्याय एक उपयुक्त और विशेष उपाय है। इसको नियमों में उल्लेखित 'स्वाध्याय' से जोड़ कर देखा जा सकता है।

यद्यपि ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म तीनों ही मुक्ति मार्ग में आवश्यक हैं तथापि सांख्य दर्शन में मोक्ष प्राप्ति में ज्ञान को सर्वोपरि माना गया है। महर्षि कपिल लिखते हैं -

ज्ञानान्मुक्तिः ।। १/२३ ।। सांख्य दर्शन

अर्थात्

ज्ञान से ही मुक्ति होती है।

इस सूत्र का अभिप्राय यह कदापि नहीं कि भक्ति और कर्मयोग की मुक्ति में भूमिका नहीं है या निम्न भूमिका है। जैसा कि पूर्व में उद्धृत किया गया तीनों ही की, मनुष्य की अपने अन्तिम प्रयोजन की सिद्धि में अत्यधिक आवश्यकता है। यह कहना उचित होगा कि साधक को श्रद्धा, विश्वास, उत्साह, सतर्कता, बिना भ्रमित हुए साधना का मार्ग अपनाना चाहिए और इस साधना को किसी विशिष्ट मार्ग में सीमित नहीं कर देना चाहिए।

****

अठारहवां अध्याय
कर्मफल व्यवस्था - प्रारब्ध

हिन्दू मान्यता पुनर्जन्म और कर्मफल व्यवस्था पर केन्द्रित है। हिन्दू शास्त्रों में, मनुष्य जीवन के लिए जितने भी, जो भी नियम निर्देशित किये गये हैं उन सब का विधान, निरपवाद, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, इन्हीं को दृष्टि में रख कर, किया गया है। साधना की सिद्धि के लिए, इस विषय में भी ज्ञान होना अति आवश्यक है। इस हेतु इन अत्यधिक महत्वपूर्ण विषयों को इस अध्याय में विस्तार से उल्लेखित किया जा रहा है।

कर्मों का विभाजन

कर्म तीन श्रेणी में विभाजित किये गये हैं।

क्रियमाण कर्म - वर्तमान में किये जाने वाले कर्म

संचित कर्म - जो कर्म पूर्व में किये जा चुके हैं और जिनका फल अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। (इसी जन्म में वर्तमान काल से पूर्व किये गये कर्म और पूर्व जन्मों में किये गये कर्म इनमें सम्मिलित हैं)

प्रारब्ध कर्म - संचित कर्मों में वे कर्म जो वर्तमान में फल देने के लिए उन्मुख हैं

उपर्युक्त तीनों श्रेणी के कर्मों का संचय शास्त्रीय भाषा में कर्माशय कहलाता है और इसका लेखा - जोखा चित्त में रहता है। जब भी कोई कर्म किया जाता है, उस के दो परिणाम होते हैं। पहला, कर्म संचित कर्मों के आशय में सम्मिलित हो प्रारब्ध काल की प्रतीक्षा करता है और दूसरा उस कर्म के संस्कार चित्त में अंकित हो जाते हैं।

यहां यह समझना आवश्यक है कि क्या प्रत्येक कर्म कर्माशय में प्रवेश कर जाता है ? क्या प्रत्येक क्रिया कर्म की गिनती में आएगी ? इसका समाधान यह है कि जो कर्म क्लेशों से युक्त होते हैं वही कर्माशय में प्रविष्ट हो जाते हैं जो कर्म अक्लिष्ट हों वे नहीं। प्रत्येक क्रिया कर्म की गिनती में नहीं आती।

उदाहरण के लिए व्यायाम, भोजन, जल आदि ग्रहण करना, भोजन पश्चात विहार करना आदि कर्माशय में सम्मिलित होने वाले कर्मों की श्रेणी में नहीं स्वीकार किये जाते हैं। इनका तात्कालिक या कुछ विलम्ब के पश्चात फल मिलता है परन्तु इन क्रियाओं का प्रारब्ध से सीधी दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं। पौष्टिक आहार से स्वास्थ्य अच्छा रहेगा, व्यायाम से शरीर तन्दुरूस्त रहेगा आदि फल अवश्य अपेक्षित हैं परन्तु इस से अधिक नहीं। प्रमुखता से परोपकार या पर अपकार से प्रेरित या अन्वित कर्म ही कर्माशय में प्रवेश पाते हैं।

इस संदर्भ में महर्षि पतंजलि लिखते हैं -

क्लेशमूल: कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय: ।। २/१२ ।।
साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

जिस कर्मसमुदाय के अविद्यादि मूल कारण हैं वह कर्मसमुदाय वर्तमान (दृष्ट) और भावी (अदृष्ट) जन्मों में फल देने वाला होता है।

यह पूर्व में वर्णित किया जा चुका है कि त्रैतवाद में प्रकृति, आत्मा और परमात्मा तीन तत्व नित्य स्वीकार किये गये हैं। नित्य का अर्थ है जिसका न आदि है न अन्त, जो सर्वदा विद्यमान था और सर्वदा विद्यमान रहेगा। इसी क्रम में जीव जो नित्य है अनादि काल से जन्म मृत्यु के चक्र में घूम रहा है और तब तक घूमता रहेगा जब तक सांसारिक बन्धनों से छुटकारा नहीं पाता अर्थात् नितान्त मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। जीवात्मा के वर्तमान जन्म का आधार उसके पूर्व किये गये संचित कर्म हैं। महर्षि कपिल सांख्यदर्शन में सांसारिक विविधता पर लिखते हैं -

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यं ।। ६/४१ ।। सांख्यदर्शन

अर्थात्

कर्मों की विचित्रता से ही सृष्टि की विविधता होती है।

पातांजल योगदर्शन के साधनपाद में कर्मफल व्यवस्था का विषय विस्तार से उल्लेखित किया गया है और व्यासभाष्य इसको और अधिक स्पष्टता प्रदान करता है।

यह प्रत्यक्ष से विदित है कि जन्म किस माता पिता के यहां, किस सामाजिक/ आर्थिक परिस्थिति में, कब या किस देश में होगा यह कोई नहीं जानता या बता सकता। इन सब का आधार पूर्व जन्मों के कर्म हैं और जन्म के समय ये स्थितियां कैसी होंगी इस पर जीव का कोई भी नियन्त्रण नहीं है। यह प्रारब्ध कर्मों का पहला चरण है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ २/१३ ॥ साधनपाद योगदर्शन

अर्थात्

अविद्यादि क्लेशों के विद्यमान रहने पर उस कर्माशय का फल आयु, जाति और भोग होते हैं।

स्वाभाविक है कि जन्म होने पर जाति का निर्धारण हो जाता है चाहे वह मनुष्य जाति हो या कोई और जाति जैसे पशु, पक्षी या कोई अन्य तीर्यक जाति। इस के अतिरिक्त, जैसा उपर्युक्त सूत्र में कहा गया, जीव को आयु और भोग भी कर्माशय अनुसार ही प्राप्त होते हैं। परन्तु जहां जन्म होने पर जाति में परिवर्तन सम्भव नहीं है, आयु और भोग में कुछ सीमा तक बदलाव हो सकता है। यह व्यक्ति के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। यदि पुरुषार्थ अपने सामर्थ्य के अनुसार पूरे उत्साह और यथायोग्य किया जाए तो अवश्य ही आयु और भोग पर प्रभाव पड़ेगा।

मिथ्या धारणा

लोक में प्रायः यह धारणा रहती है कि जीवन में प्रत्येक छोटी बड़ी घटना या जो परिस्थिति निर्मित होती है वह पूर्व निर्धारित है और ईश्वर को इन सब का पूर्व से ही ज्ञान रहता है। यह धारणा त्रुटिपूर्ण है। जहां आयु और भोग, निरपवाद कर्माशय पर आधारित हैं, तथापि यह कहना कि प्रत्येक घटना/स्थिति शत प्रतिशत पूर्व से ही निर्धारित है अतिश्योक्ति होगी। मनुष्य अपने वर्तमान पुरुषार्थ से आयु और भोग में कुछ सीमा तक परिवर्तन ला सकता है। यदि सब कुछ पूर्व निर्धारित हो तो मनुष्य के कर्म करने की स्वतंत्रता पर, जो कर्मफल व्यवस्था के मूल में है, प्रश्न चिन्ह लग जाएगा। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है। शास्त्रों में जो भी विधान उल्लेखित किये गये हैं, उनको मानने या न मानने का अधिकार मनुष्य का व्यक्तिगत निर्णय है। यदि मनुष्य जो कर्म करेगा पूर्व से ही निर्धारित है तो विधान या निषेध का करना निरर्थक हो जाएगा। कर्मफल व्यवस्था का आधार ही मनुष्य के कर्म कर पाने में उसकी स्वतंत्रता है। इस तर्क का ईश्वर की सर्वज्ञता पर प्रश्न उठाना बिल्कुल नहीं है। परन्तु यदि ईश्वर को पूर्व से ही ज्ञान है कि भविष्य में शत प्रतिशत क्या होने वाला है तो ईश्वर की ही मनुष्य को प्रदान की गई कर्म करने की स्वतंत्रता, स्वतंत्रता न रहकर परतंत्रता हो जाएगी। मनुष्य कर्म करने में पूर्णत: स्वतंत्र है और फल भोगने में पूर्णतः परतंत्र।

मनुष्य की साधना का मुख्य प्रयोजन दु:खों की पूर्ण निवृत्ति और मोक्ष प्राप्ति है। दुःख का कारण पूर्व में किए गये क्लेशयुक्त कर्म हैं। उपर्युक्त सूत्रों से स्पष्ट है कि क्लेशों की विद्यमानता होने पर ही कर्म कर्माशय

में प्रवेश पाते हैं। यहां यह भी समझना आवश्यक है कि यदि सम्पूर्ण क्लेशों को क्षीण कर दिया जाए तो कर्माशय फल देने में असमर्थ हो जाएगा।

साधना के अनुष्ठान से जब समाधि की स्थिति निर्मित होती है तब धीरे धीरे वैराग्य बलवान् होता जाता है और क्लेश क्षीण होने लगते हैं। जब सम्पूर्ण क्लेश दग्धबीज हो जाते हैं तब कर्माशय का फल देने का सामर्थ्य क्षीण हो जाता है। यह साधक की जीवन मुक्त अवस्था है। इस समय केवल और केवल गुणवृत्तिविरोध के दु:ख ही शेष रहते हैं जिनका क्षय शरीर छूटने पर ही मिलता है। यह नितांत मुक्ति की स्थिति है।

जहां प्रारब्ध अनुसार जाति, आयु और भोग की प्राप्ति होती है, कर्माशय का कौन सा संचित कर्म किस काल में प्रारब्ध बनेगा, इसकी सर्वदा अनिश्चितता बनी रहती है। ऐसा नहीं है कि जो कर्म पहले किये गये हों उनका फल पहले मिलेगा। ऐसा पूर्णतः सम्भव है कि पहले किये कर्मों का विलम्ब से फल मिले और बाद में किये गये कर्मों का पहले। यह भी निश्चित नहीं है कि वर्तमान जन्म के कर्म इसी जन्म में फल देंगे या अनागत जन्मों में।

शीघ्रता से फल देने वाले कर्म

परन्तु कुछ कर्मों के विषय में, योगदर्शन के व्यासभाष्य में उल्लेखित है, कि फल अतिशीघ्र प्राप्त होता है।

तीव्र वेग से मन्त्र, तप, समाधि, ईश्वर, देवता, महर्षि, महानुभावों की आराधना से सम्पादित पुण्य कर्माशय शीघ्र फल देता है।

इसी प्रकार तीव्र क्लेश के द्वारा भीत (डरे हुए), रुग्ण, कृपापात्रों का तथा महानुभावों अथवा तपस्वियों के प्रति बार बार किया गया अपकार, वह पाप कर्माशय शीघ्र फल देता है।

दूसरों से प्राप्त सुख दु:ख प्रारब्धवश नहीं होता

कई बार बिना कर्म या पुरुषार्थ के अन्यों से सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार कई बार स्वयं का दोष न होने पर भी दूसरे अन्यायपूर्वक व्यवहार करते हैं, पीड़ा देते हैं। व्यास भाष्य के अनुसार ऐसे सुख दु:ख का प्राप्त होना प्रारब्धवश नहीं होता बल्कि वह कर्म का परिणाम या प्रभाव है।

****

उन्नीसवां अध्याय
आस्तिक और नास्तिक दर्शन और वेदों की उत्पत्ति

इस पुस्तक में साधना सिद्धि के लिए, जिन साधनों और उपायों को उल्लेखित किया गया है, वे मुख्यतः पातांजल योगदर्शन के सूत्रों पर आधारित हैं। योगदर्शन एक आस्तिक दर्शन है।

आस्तिक और नास्तिक दर्शन

भारतीय दर्शन दो श्रेणियों में विभाजित हैं। जो दर्शन, वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान का मूल मानते हैं, आस्तिक दर्शन हैं और जो वेदों की प्रमाणिकता को स्वीकार नहीं करते, नास्तिक दर्शन हैं।

जैसा कि प्रथम अनुच्छेद में उद्धृत किया गया योगदर्शन आस्तिक दर्शन है। इसके अतिरिक्त पांच अन्य आस्तिक दर्शन हैं - सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त।

जैन, बौद्ध और चार्वाक नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में स्वीकार किये गये हैं।

वेदों की उत्पत्ति

वैदिक परंपरा में वेदों को अपौरुषेय माना गया है अर्थात् वेदों की रचना मनुष्य नहीं अपितु परम पिता परमेश्वर द्वारा हुई है। मान्यता है

कि सृष्टि के आदि में ईश्वर ने, वैदिक ज्ञान, उस समय में उपस्थित, चार सर्वाधिक पूण्यात्माओं के हृदय में अन्वित कर दिया और वही वैदिक ज्ञान परम्परा से आज भी हमें उपलब्ध होता है। वे चार ऋषि थे आदित्य, अग्नि, वायु और अंगिरा।

इन ऋषियों से सर्वप्रथम, यह सर्वोच्च ज्ञान, ब्रह्मा नाम के ऋषि ने प्राप्त किया और परम्परा से पीढ़ी दर पीढ़ी आगे उपलब्ध होता गया। महर्षि ब्रह्मा से आरंभ हुई ऋषि परंपरा में ऋषि जैमिनी आखिरी ऋषि स्वीकार किए जाते हैं। जैमिनी, महर्षि वेदव्यास के शिष्य थे। मीमांसा दर्शन की रचना महर्षि जैमिनी ने ही की थी।

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में स्वामी दयानंद सरस्वती वेदों की उत्पत्ति के विषय में विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं। स्वामी जी लिखते हैं कि वर्तमान मन्वंतर वैवस्वत मनु के आधिपत्य में चल रहा है। यह इस कल्प का सातवां मन्वंतर है। इससे पूर्व छः मन्वंतर बीत चुके हैं - स्वायम्भव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत और चाक्षुस। वर्तमान मन्वंतर के बाद इस कल्प में सांवर्णि आदि ७ मन्वंतर और शेष हैं। ७१ चतुर्युगों का एक मन्वंतर होता है। एक चतुर्युग में १७,२८,००० वर्ष का सतयुग, १२,९६,००० वर्ष का त्रैतायुग, ८,६४,००० वर्ष का द्वापर और ४,३२,००० वर्ष का कलयुग माना गया है। इस गणना से एक चतुर्युग ४३,२०,००० वर्ष का हुआ। ७१ चतुर्युगों अर्थात् १ मन्वंतर में ४३,२०,००० x ७१ = ३०,६७,२०,००० (३० करोड़ सड़सठ लाख बीस हजार) वर्ष हुए।

इस कल्प के ऐसे छ: मन्वंतर बीत चुके हैं अर्थात् ३०,६७,२०,००० x ६ = १,८४,०३२०००० (एक अरब चौरासी करोड़ तीन लाख बीस हजार) वर्ष। वर्तमान के सातवें मन्वंतर के अभी २८ वां चतुर्युग भोग में है। इस चतुर्युग में लगभग ४९७६ वर्ष का भोग तो हो चुका है और ४,२७,०२४ वर्ष का भोग अभी शेष है। वर्तमान कल्प के १,९६,०८,५२,९७६ (एक अरब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नौ सौ छिहत्तर) वर्ष बीत चुके हैं और वेदों की उत्पत्ति भी आज से लगभग १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष पूर्व हुई। इस कल्प के अभी २,३३,३२,२७०२४ (दो अरब, तैंतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताइस हजार, चौबीस) वर्ष शेष हैं।

वेद चार हैं - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। प्रत्येक वेद का एक उपवेद है। ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गन्धर्ववेद और अथर्ववेद का स्थापत्यवेद।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष वेदांग कहलाते हैं। वेदों के पठन-पाठन में वेदांगों का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। योग और अन्य पांच आस्तिक दर्शनों को उपांग की संज्ञा दी गई है। ये सभी शास्त्र वेदानुकूल हैं। वेदों को स्वत: प्रमाणित स्वीकार किया जाता है क्योंकि कि वैदिक ज्ञान ईश्वर से प्राप्त हुआ है और अन्य वेदानुकूल ग्रन्थ की प्रमाणिकता वेदों से प्राप्त होती है, अतः ये परत: प्रमाण हैं।

प्रत्येक वेद के दो भाग हैं, संहिता और ब्राह्मण। संहिता मन्त्रों का समूह है जो अपौरुषेय माने जाते हैं और ब्राह्मण गद्य रूप में हैं। इनकी रचना मनुष्य कृत हैं। इनमें वैदिक मन्त्रों और कर्मकांड के विषय में विस्तार से वर्णन है। अरण्य और उपनिषद इन्हीं ब्राह्मणों के भाग हैं अर्थात् अरण्य और उपनिषद अपने आप में स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं हैं परन्तु प्रचलन में उन्हें स्वतंत्र ग्रन्थ के समान ही स्वीकार किया जाता है।

चारों वेद और उनसे सम्बन्धित ब्राह्मणो को श्रुति संज्ञा दी गई है और इन में जो विधान और निषेध किया गया है वह सर्वोपरि है। केवल वे ग्रन्थ जो वेदानुकूल हैं, वही शास्त्र के रूप में स्वीकार किए जाते हैं।

****

संदर्भ - ग्रंथ

१) योगदर्शन	सूत्रकार महर्षि पतंजलि (व्यासभाष्य सहित)
२) सांख्यदर्शन	सूत्रकार महर्षि कपिल
३) श्रीमद्भगवद्गीता	महर्षि वेदव्यास रचित महाकाव्य महाभारत का अंश
४) साधक संजीवनी	स्वामी रामसुखदास की गीता पर टीका
५) ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका	स्वामी दयानंद सरस्वती

६) ईशोपनिषद (शुक्लयजुर्वेद का चालीसवां अध्याय)